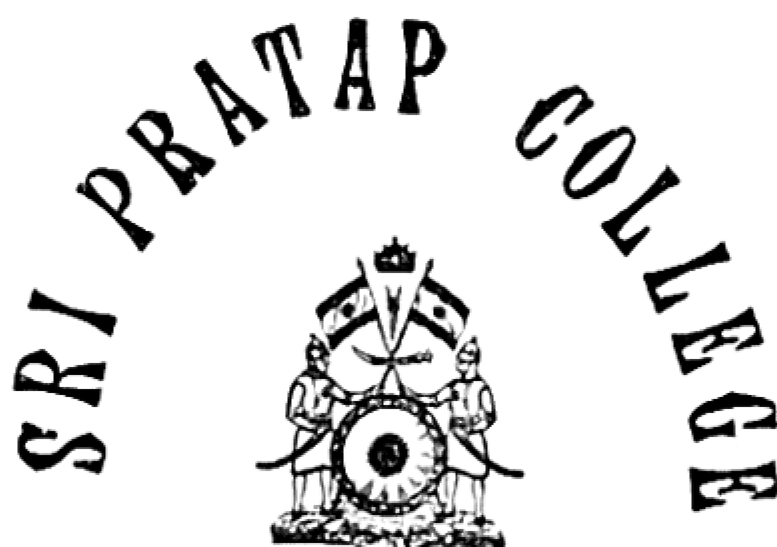

SRI PRATAP COLLEGE

गांधी-उपदेश-माला—द्वितीय प्रसून

"श्रीमद्भगवद्गीता"

अर्थात्

अनासक्ति योग : गीता-बोध सहित

महात्मा गांधी

MAHATMA GANDHI

भारतीय प्रकाशन मंडल

सिरकी बाजार, दिल्ली।

आर्य पुस्तक भण्डार, नई सड़क, दिल्ली ने
श्रीकृष्ण, भारतीय प्रकाशन मंडल,
सिरकी बाजार, दिल्ली के
लिए प्रकाशित की।

◆

प्रथम संस्करण : १९४८
मूल्य : दो रुपये आठ आने

◆

मुद्रक :
पी० वी० आई० प्रेस,
ओरिजनल रोड, नई दिल्ली।

अनासक्ति योग की
प्रस्तावना

: १ :

जैसे स्वामी आनन्द आदि मित्रों के प्रेम के वश होकर मैंने सत्य के प्रयोगों-भर के लिए आत्म-कथा का लिखना आरंभ किया था वैसे गीता का अनुवाद भी। स्वामी आनन्द ने असहयोग के जमाने में मुझसे कहा था कि "आप गीता का जो अर्थ करते हैं, वह अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब आप एक बार समूची गीता का अनुवाद कर जायं, और उसके ऊपर जो टीका करनी हो वह करें, और हम वह संपूर्ण एक बार पढ़ जायं। फुट-फाट श्लोकों में से अहिंसादि का प्रतिपादन यह मुझे तो ठीक नहीं लगता है।" मुझे उनकी दलील में सार जान पड़ा। मैंने जवाब दिया कि 'अवकाश मिलने पर यह करूँगा।' फिर मैं जेल में गया, वहाँ तो गीता का अध्ययन कुछ अधिक गहराई से करने का मौका मिला। लोकमान्य का ज्ञान का भंडार पढ़ा। उन्होंने ही पहले मुझे मराठी, हिन्दी और गुजराती अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और सिफारिश की थी कि मराठी न पढ़ सकूँ तो गुजराती अवश्य पढ़ूँ। जेल के बाहर तो उसे न पढ़ पाया, पर जेल में गुजराती अनुवाद पढ़ा। इसे पढ़ने के बाद गीता के संबंध में अधिक पढ़ने की इच्छा हुई और गीता-संबंधी अनेक ग्रन्थ उलटे-पलटे।

मुझे गीता का प्रथम परिचय एडविन आर्नोल्ड के पद्य-अनुवाद से सन् १८८८-८९ में प्राप्त हुआ। उससे गीता का गुजराती अनुवाद पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे उन्हें पढ़ गया। परन्तु ऐसी पढ़ाई मुझे अपना अनुवाद जनता के सामने रखने का बिलकुल अधिकार नहीं देती। इसके सिवा मेरा संस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजराती का ज्ञान विद्वत्ता के विचार से कुछ नहीं है। तब मैंने अनुवाद करने की धृष्टता क्यों की?

गीता को मैंने जिस प्रकार समझा है उस प्रकार उसका आचरण करने का मेरा और मेरे साथ रहने वाले कई साथियों का बराबर प्रयत्न है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदान-ग्रंथ है। उसके अनुसार आचरण में निष्फलता रोज आती है, पर वह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है; इस निष्फलता में सफलता की फूटती हुई किरणों की झलक दिखाई देती है। यह नन्हा-सा जन-समुदाय जिस अर्थ को आचार में परिणत करने का प्रयत्न करता है वह अर्थ इस अनुवाद में है।

इसके सिवा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र जैसे, जिन्हें अक्षर-ज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृत में गीता समझने का समय नहीं है, इच्छा नहीं है, परन्तु जिन्हें गीतारूपी सहारे की आवश्यकता है, उन्हीं के लिए इस अनुवाद की कल्पना है।* गुजराती भाषा का मेरा ज्ञान कम होने पर भी उसके द्वारा गुजरातियों को मेरे पास जो कुछ पूँजी हो वह दे जाने की मुझे सदा भारी अभिलाषा रही है। मैं यह चाहता हूँ अवश्य, कि आज गन्दे साहित्य

---

* गांधी जी का अनुवाद गुजराती में है। यह उसी का हिन्दी अनुवाद है।

का जो प्रवाह जोरों से जारी है उस समय में हिन्दू-धर्म में अद्वितीय माने जाने वाले इस ग्रंथ का सरल अनुवाद गुजराती जनता को मिले और उसमें से वह उस प्रवाह का सामना करने की शक्ति प्राप्त करे।

इस अभिलाषा में दूसरे गुजराती अनुवादों की अवहेलना नहीं है। उन सबका स्थान भले ही हो—पर उनके पीछे उनके अनुवादकों का आचाररूपी अनुभव का दावा हो, ऐसा मेरी जानकारी में नहीं है। इस अनुवाद के पीछे अड़तीस वर्ष के आचार के प्रयत्न का दावा है। इसलिए मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि प्रत्येक गुजराती भाई और बहन, जिन्हें धर्म को आचरण में लाने की इच्छा है, इसे पढ़ें, विचारें और इसमें से शक्ति प्राप्त करें।

इस अनुवाद में मेरे साथियों की मेहनत मौजूद है। मेरा संस्कृत ज्ञान बहुत अधूरा होने के कारण शब्दार्थ पर मुझे पूरा विश्वास नहीं हो सकता था, अतः इतने-भर के लिए इस अनुवाद को विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोरलाल मशरूवाला ने देख लिया है।

: ३ :

अब गीता के अर्थ पर आता हूँ।

सन् १८८८-८९ में जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरन्तर होते रहने वाले द्वन्द्व युद्ध का ही वर्णन है; मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी

हुई कल्पना है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्म का और गीता का विशेष विचार करने के बाद पक्की हो गई। महाभारत पढ़ने बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत ग्रंथ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्व में ही हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान् ने राजा-प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है। उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों, परंतु महाभारत में तो उनका उपयोग व्यास भगवान् ने केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता नहीं, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ नहीं रहने दिया।

इस महाग्रंथ में गीता शिरोमणि रूप से विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध-व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। स्थितप्रज्ञ का ऐहिक युद्ध के साथ कोई संबंध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणों में से ही प्रतीत होती हुई है। साधारण पारिवारिक झगड़ों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता-जैसी पुस्तक की रचना संभव नहीं है।

गीता के कृष्ण मूर्तिमान शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान हैं। परन्तु काल्पनिक हैं। यहाँ कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल संपूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, संपूर्णावतार का आरोपण पीछे से हुआ है।

अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुषविशेष। जीव-मात्र ईश्वर के अवतार हैं, परन्तु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार

नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान है उसे भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता, इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में कमी आती है, न उसमें सत्य को आघात पहुँचता ह। "आदम खुदा नहीं; लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचार-श्रेणी से कृष्णरूपी संपूर्णावतार आज हिन्दूधर्म में साम्राज्य भोग रहा है।

यह दृश्य मनुष्य की अन्तिम सदभिलाषा का सूचक है। मनुष्य को ईश्वररूप हुए बिना चैन नहीं पड़ता, शांति नहीं मिलती। ईश्वर रूप होने के प्रयत्न का नाम सच्चा और एक-मात्र पुरुषार्थ है, और यही आत्म-दर्शन है। यह आत्म-दर्शन सब धर्म-ग्रंथों का विषय है, वैसे ही गीता का भी है। पर गीताकार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता नहीं रची। वरन् आत्मार्थी को आत्म-दर्शन का एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का आशय है। जो चीज हिन्दू-धर्म-ग्रंथों में छिट-फुट दिखाई देती है, उसे गीता ने अनेक रूपों, अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है 'कर्म-फल-त्याग।'

इस मध्यबिंदु के चारों ओर गीता की सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आस-पास तारा-मंडल के रूप में सज गये हैं। जहाँ देह है तहाँ कर्म तो है ही। उसमें से कोई मुक्त नहीं है। तथापि देह को प्रभु का मन्दिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मों ने प्रतिपादन किया है। परन्तु कर्म-मात्र में कुछ दोष तो है ही, मुक्ति तो निर्दोष की ही होती

है। तब कर्म-बन्धन में से अर्थात् दोष-स्पर्श में से कैसे छुटकारा हो ? इसका जवाब गीता जी ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है—"निष्काम कर्म से, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्म-फल-त्याग करके, सब कर्मों को कृष्णार्पण करके, अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर में होम करके।"

पर निष्कामता कर्म-फल-त्याग कहने भर से नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। यह हृदय-मंथन से ही उत्पन्न होता है। यह त्याग-शक्ति पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकार का ज्ञान तो बहुतेरे पंडित पाते हैं। वेदादि उन्हें कंठ होते हैं। परन्तु उनमें से अधिकांश भोगादि में लगे-लिपटे रहते हैं। ज्ञान का अतिरेक शुष्क पांडित्य के रूप में न हो जाय, इस ख्याल से गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाया और उसे प्रथम स्थान दिया। बिना भक्ति का ज्ञान हानिकर है। इस-लिए कहा गया, "भक्ति करो, तो ज्ञान मिल ही जायगा।" पर भक्ति तो 'सिर का सौदा' है, इसलिए गीताकार ने भक्त के लक्षण स्थितप्रज्ञ के-से बतलाये हैं।

तात्पर्य गीता की भक्ति बाह्याचारिता नहीं है, अंधश्रद्धा नहीं है। गीता में बताये उपचार का बाह्य चेष्टा या क्रिया के साथ कम-से-कम संबंध है। माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त बरते, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी का द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भंडार है और ममता रहित है जो निरहंकार है जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा सन्तोषी है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिये हैं, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों का भय नहीं रखता, जो हर्ष-शोक-भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्य-दक्ष होने पर भी

तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करने वाला है, जो शत्रु-मित्र पर सम-भाव रखने वाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुति से खुशी नहीं होती, और निन्दा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकांत प्रिय है, जो स्थिर-बुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों में संभव नहीं है।

उसमें से हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्म-दर्शन है। आत्म-दर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे रुपये के बदले में जहर खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ज्ञान या भक्ति के बदले बंधन भी लाया जा सके और मोक्ष भी, यह संभव नहीं है। यहाँ तो साधन और साध्य, बिलकुल एक नहीं, तो लगभग एक ही वस्तु हैं, साधन की पराकाष्ठा जो है वही मोक्ष है। और गीता के मोक्ष का अर्थ परम शांति है।

किंतु ऐसे ज्ञान और भक्ति को कर्म-फल-त्याग की कसौटी पर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पना में शुष्क पंडित भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करने को नहीं रहता। हाथ से लोटा तक उठाना भी उसके लिए कर्म-बंधन है। यज्ञ-शून्य जहाँ ज्ञानी गिना जाय वहाँ लोटा उठाने-जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे मिल सकता है ?

लौकिक कल्पना में भक्त से मतलब है बाह्याचारी + माला लेकर जप करनेवाला। सेवा-कर्म करते भी उसकी, माला में विक्षेप पड़ता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग भोगने के समय

+ जो बाह्याचार में लीन रहता है और शुद्ध भाव से मानता है कि यही भक्ति है।

ही माला को हाथ से छोड़ता है, चक्की चलाने या रोगी की सेवा शुश्रूषा करने के लिए कभी नहीं छोड़ता।

इन दोनों वर्गों को गीता ने साफ तौर से कह दिया "कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्म द्वारा ज्ञानी हुए। यदि मैं भी आलस्यरहित होकर कर्म न करता रहूँ तो इन लोकों का नाश हो जाय।" तो फिर लोगों के लिए पूछना ही क्या रह जाता है ?

परंतु एक ओर से कर्म-मात्र बंधनरूप हैं, यह निर्विवाद है। दूसरी ओर से देही इच्छा-अनिच्छा से भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएँ कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधनमुक्त कैसे रहे ? जहाँतक मुझे मालूम है, इस समस्या को हल जिस तरह गीता ने किया है वैसा दूसरे किसी भी धर्म-ग्रंथ ने नहीं किया है। गीता का कहना है कि "फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो", "आशारहित होकर कर्म करो", "निष्काम होकर कर्म करो।" यह गीता की वह ध्वनि है जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है वह चढ़ता है। फल-त्याग का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम के संबंध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है वह फल-त्यागी है।

पर यहाँ फल-त्याग का कोई यह अर्थ न करे कि त्यागी को फल मिलता नहीं। गीता में ऐसे अर्थ को कहीं स्थान नहीं है। फल-त्याग से मतलब है फल के संबंध में आसक्ति का अभाव। वास्तव में देखा जाय तो फल-त्यागी को तो हजार गुना फल

मिलता है। गीता के फल-त्याग में तो अपरिमित श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम का ध्यान करता रहता है वह बहुत बार कर्म—कर्तव्य भ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोध के वश हो जाता है, और फिर वह न करने योग्य करने लग पड़ता है, एक कर्म में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में पड़ता जाता है। परिणाम की चिंता करनेवाले की स्थिति विषयांध की-सी हो जाती है और अंत में वह विषयी की भाँति सारासार का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है, और फल प्राप्त करने के लिए हर किसी साधन से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्ति के ऐसे कटु परिणामों में से गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात् कर्म-फल-त्याग का सिद्धांत निकाला और संसार के सामने अत्यंत आकर्षक भाषा में रखा। साधारणतः तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु हैं, "व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहार में धर्म नहीं बचाया जा सकता, धर्म को जगह नहीं हो सकती, धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ।" बहुतों से ऐसा कहते हम सुनते हैं। गीताकार ने इस भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच ऐसा भेद नहीं रखा है। वरन् व्यवहार में धर्म को उतारा है। जो धर्म व्यवहार में न लाया जा सके वह धर्म नहीं है, मेरी समझ से यह बात गीता में है। मतलब, गीता के मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सकें वे भी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण-नियम मनुष्य को अनेक धर्म-संकटों में से बचाता है। इस मत के अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते हैं। मानव-जीवन सरल बन जाता है और सरलता में से शांति उत्पन्न होती है।

इस विचार-श्रेणी के अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीता की शिक्षा को व्यवहार में लानेवाले को अपने-आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता है। फलासक्ति के बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का। चाहे जिस हिंसा या असत्य के कार्य को हम लें यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती ही है। गीता-काल के पहले भी अहिंसा परम धर्म रूप मानी जाती थी। पर गीता को तो अनासक्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्याय में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परंतु यदि गीता को अहिंसा मान्य थी अथवा अनासक्ति में अहिंसा अपने-आप आ ही जाती है तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप में भी क्यों लिया? गीता-युग में अहिंसा धर्म मानी जाने पर भी भौतिक युद्ध सर्व-सामान्य वस्तु होने के कारण गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते संकोच नहीं हुआ और न होना चाहिए था।

परंतु फल-त्याग के महत्त्व का अंदाजा करते हुए गीताकार के मन में क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा कहाँ निश्चित की थी, इस पर हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती। कवि महत्त्व के सिद्धांतों को संसार के संमुख उपस्थित करता है, इसके यह मानी नहीं होते कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुए सिद्धांतों का महत्त्व पूर्णरूप से पहचानता है या पहचानने के बाद समूचे को भाषा में रख सकता है। इसमें काव्य की और कवि की महिमा है। कवि के अर्थ का अंत ही नहीं है। जैसे मनुष्य का उसी प्रकार महावाक्यों के अर्थ का विकास होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास से हमें मालूम होता है कि अनेक महान् शब्दों के अर्थ नित्य नये होते रहे हैं। यही बात गीता के अर्थ

के संबंध में भी है। गीताकार ने स्वयं महान् शब्दों के अर्थ का विस्तार किया है। गीता को ऊपरी दृष्टि से देखने से भी यह बात मालूम हो जाती है। गीता-युग के पहले कदाचित् यज्ञ में पशु-हिंसा मान्य रही हो। गीता के यज्ञ में उसकी कहीं गंध तक नहीं है। उसमें तो जपयज्ञ यज्ञों का राजा है। तीसरा अध्याय बतलाता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्य रूप से परोपकार के लिए शरीर का उपयोग। तीसरा और चौथा अध्याय मिलाकर दूसरी व्याख्याएं भी निकाली जा सकती हैं। पर पशु-हिंसा नहीं निकाली जा सकती। वही बात गीता के संन्यास के अर्थ के संबंध में है। कर्म-मात्र का त्याग गीता के संन्यास को भाता ही नहीं। गीता का संन्यासी अतिकर्मी है तथापि अति-अ-कर्मी है। इस प्रकार गीता-कार ने महान् शब्दों का व्यापक अर्थ करके अपनी भाषा का भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकार की भाषा के अक्षरों से यह बात भले ही निकलती हो कि संपूर्ण कर्म-फल-त्यागी द्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, परंतु गीता की शिक्षा को पूर्ण-रूप से अमल में लाने का ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करने पर मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पड़ा है कि सत्य और अहिंसा का पूर्ण-रूप से पालन किये बिना संपूर्ण कर्म-फल-त्याग मनुष्य के लिए असंभव है।

गीता सूत्र-ग्रंथ नहीं है। गीता एक महान् धर्म-काव्य है। उसमें जितना गहरे उतरिये उतने ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ लीजिये। गीता जन-समाज के लिए है, उसमें एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा है। अतः गीता में आये हुए महाशब्दों का अर्थ युग-युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूलमंत्र कभी नहीं बदल सकता। वह मंत्र जिस रीति से सिद्ध किया जा सके उस रीति से जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधि-निषेध बतलानेवाली भी नहीं है। एक के लिए जो विहित होता है, वही दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देश में जो विहित होता है, वह दूसरे काल में, दूसरे देश में निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीता में ज्ञान की महिमा सुरक्षित है। तथापि गीता बुद्धि-गम्य नहीं है, वह हृदयगम्य है, अतः वह अश्रद्धालु के लिए नहीं है। गीताकार ने ही कहा है—

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना।"

"परंतु यह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी परम भक्ति करने के कारण निःसन्देह मुझे ही पायगा।"

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहाँ बसते हैं उस शुभ लोक को पायगा।"

कौसानी (हिमालय)
सोमवार
आषाढ़ कृष्ण २, १९८६
ता०–२४–६–२९

मो० क० गांधी

गीता-बोध की

प्रस्तावना

जिस पुस्तक का हम नित्य थोड़ा-थोड़ा करके पारायण और मनन करते हैं, जिसे अपने लिए हमने आध्यात्मिक दीप-स्तम्भ-रूप बना रखा है, मैंने उसे जैसा समझा है, उस पर अपने विचार देने की इच्छा है। यह खयाल पहले एक पत्र पाकर हुआ था। लेकिन गत सप्ताह भाई········के पत्र ने मुझे इसके लिए तैयार कर दिया। वह लिखते हैं कि, वह 'अनासक्तियोग' पढ़ते हैं, लेकिन समझने में बहुत कठिनाई पड़ती है। सबकी समझ में आने योग्य भाषा में अर्थ करने का प्रयत्न करते हुए भी शब्दशः अनुवाद देने में समझने की कठिनाई तो अवश्य रहेगी। विषय ही जहाँ कठिन हो वहाँ सरल भाषा क्या कर सकती है? इसलिए अब विषय को ही सरल रीति से रखने का प्रयत्न करना चाहता हूँ। जिस वस्तु का हम उठते-बैठते उपयोग करना चाहते हैं, जिसकी सहायता से अपनी सारी आंतरिक उलझनें सुलझाने का प्रयत्न करते हैं; उस ग्रन्थ को जितनी रीतियों से, जैसे भी समझा जा सके वैसे समझने और बारम्बार उसका मनन करने से अन्त में हम तन्मय हो सकते हैं। मैं तो अपनी सारी कठिनाइयों में गीता-माता के पास दौड़ता हूँ और अबतक आश्वासन पाता आया हूँ। दूसरों को भी जो उसमें से आश्वासन पाने के

इच्छुक हैं, शायद जिस रीति से मैं उसे रोज-रोज समझता जाता हूँ, वह रीति जानकर कुछ अधिक मदद मिले। उस रीति को जानकर उनको कुछ नया प्रकाश पाना भी असम्भव नहीं है।

गीता महाभारत का एक नन्सा-सा विभाग है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है, पर हमारे मत से महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं हैं बल्कि धर्म-ग्रन्थ हैं। या उसे ऐतिहासिक ही कहना चाहें तो वह आत्मा का इतिहास है। और वह हजारों वर्ष पहले क्या हुआ यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देह में क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है। महाभारत और रामायण दोनों में देव और असुर के—राम रावण के बीच नित्य चलने वाली लड़ाई का वर्णन है। ऐसे वर्णन में गीता कृष्ण-अर्जुन के बीच का संवाद है। उस संवाद का वर्णन अन्धे धृतराष्ट्र से संजय करता है। गीता के मानी हैं गाई गई। इसमें 'उपनिषद्' अध्याहार है। अतः पूरा अर्थ हुआ गाया गया उपनिषद्। उपनिषद् अर्थात् ज्ञान-बोध। यानी गीता का अर्थ हुआ श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया हुआ बोध। हमें यह समझकर गीता पढ़नी चाहिए कि हमारी देह में अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् आज विराजमान हैं; और जब जिज्ञासु अर्जुन रूप होकर धर्म-संकट में अन्तर्यामी भगवान् से पूछेगा, उसकी शरण लेगा, तो उस समय वह हमें शरण देने को तैयार मिलेंगे। हम हो सोये हैं; अन्तर्यामी तो सदा जाग्रत है। वह बैठा राह देखता है कि हममें कब जिज्ञासा उत्पन्न हो। पर हमें सवाल भी पूछना नहीं आता, सवाल पूछने की मन में भी नहीं उठती। इस कारण गीता-सरीखी पुस्तक का नित्य ध्यान धरते हैं, उसका भजन करते-करते अपने में धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न करने की इच्छा करते हैं, सवाल पूछना सीखना चाहते हैं, और जब-

जब मुसीबत में पड़ते हैं तब-तब अपनी मुसीबत दूर करने के लिए हम गीता की शरण जाते हैं और उससे आश्वासन लेते हैं। इसी दृष्टि से गीता पढ़नी है। वह हमारी सद्गुरु-रूप है, माता-रूप है, और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोद में सिर रखकर हम सही सलामत पार हो जायंगे। गीता के द्वारा अपनी सारी धार्मिक गुत्थियाँ सुलझा लेंगे। इस भाँति नित्य नये अर्थ मिलेंगे। ऐसी एक धर्म की उलझन नहीं है कि जिसे गीता न सुलझा सकती हो। हमारी अल्प श्रद्धा के कारण हमें उसका पढ़ना-समझना न आये तो यह दूसरी बात है। पर हम अपनी श्रद्धा नित्य-नित्य बढ़ाते जाने और अपने को सावधान रखने के लिए गीता का पारायण करते हैं। इस भाँति गीता का मनन करते हुए जो कुछ अर्थ मुझे उससे मिला है, और आज भी मिलता जाता है, उसका सार आश्रमवासियों की सहायता के लिए यहाँ दे रहा हूँ।

यरवदा जेल,
११-११-३०

मो० क० गांधी

◆

विषय-सूची



अनासक्ति योग : गीता-बोध सहित

१

अर्जुन-विषाद योग

जिज्ञासा बिना ज्ञान नहीं होता। दुःख बिना सुख नहीं होता। धर्म-संकट—हृदय-मंथन सब जिज्ञासुओं को एक बार होता ही है।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—

हे संजय! मुझे बतलाओ कि धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पांडु के पुत्रों ने क्या किया?

टिप्पणी—यह शरीररूपी क्षेत्र धर्मक्षेत्र है, क्योंकि यह मोक्ष का द्वार हो सकता है। पाप से इसकी उत्पत्ति है और पाप का यह भाजन बना रहता है, इसलिए यह कुरुक्षेत्र है।

कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियाँ। पांडु पुत्र अर्थात् दैवी वृत्तियाँ। प्रत्येक शरीर में भली और बुरी वृत्तियों में युद्ध चलता ही रहता है, यह कौन नहीं अनुभव करता?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय ने कहा--

उस समय पांडवों की सेना सजी देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाकर बोले—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य ! अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा सजाई हुई पांडवों की इस बड़ी सेना को देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

यहाँ भीम, अर्जुन-जैसे लड़ने में शूरवीर धनुर्धर, युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपदराज,

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

धृष्टकेतु, चेकितान, शूरवीर काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य,

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमोजा, सुभद्रा-पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के पुत्र ये सभी महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! अब हमारी ओर के जो मुख्य योद्धा हैं उन्हें आप जान लीजिये । अपनी सेना के नायकों के नाम मैं आपके ध्यान में लाने के लिए कहता हूँ ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

एक तो आप, भीष्म, कर्ण, युद्ध में जयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा,

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

दूसरे भी बहुतेरे नाना प्रकार के शस्त्रों से युद्ध करने वाले शूरवीर हैं, जो मेरे लिए प्राण देने वाले हैं। वे सब युद्ध में कुशल हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना का बल अपूर्ण है, पर भीम द्वारा रक्षित उनकी सेना पूर्ण है ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थान से सब मार्गों से भीष्म-पितामह की रक्षा अच्छी तरह करें ।

(इस प्रकार दुर्योधन ने कहा)

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तब उसे आनन्दित करते हुए कुरुवृद्ध प्रतापी पितामह ने उच्च स्वर से सिंहनाद करके शंख बजाया।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

फिर तो शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंगे एक साथ ही बज उठे। यह नाद भयंकर था।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इतने में सफेद घोड़ों वाले बड़े रथ पर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण ने पांचजन्य शंख बजाया। धनंजय अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया। भयंकर कर्म वाले भीम ने पौंड्र नामक महाशंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंत विजय नामक शंख बजाया और नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

बड़े धनुष वाले काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराट-राज, अजेय सात्यकि,

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

द्रुपदराज, द्रौपदी के पुत्र, सुभद्रापुत्र, महाबाहु अभिमन्यु, इन सबने, हे राजन ! अपने-अपने शंख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

पृथ्वी और आकाश को गुंजा देने वाले उस भयंकर नाद ने कौरवों के हृदय विदीर्ण कर डाले।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

हे राजन् ! हनुमान चिह्न की ध्वजा वाले अर्जुन ने कौरवों को सजे देखकर, हथियार चलने की तैयारी के समय अपना धनुष चढ़ाकर हृषीकेश से वचन कहे।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

अर्जुन बोले—

'हे अच्युत ! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा रखो'

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धु-कामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जिससे युद्ध की कामना से खड़े हुए लोगों को मैं देखूँ और जानूँ कि इस रण-संग्राम में मुझे किसके साथ लड़ना है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय करने की इच्छा वाले जो योद्धा इकट्ठे हुए हैं उन्हें मैं देखूँ तो सही।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

संजय ने कहा--

हे राजन ! जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यों कहा तब उन्होंने दोनों सेनाओं के बीच में सब राजाओं और भीष्म-द्रोण के सम्मुख उत्तम रथ खड़ा करके कहा—'हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख'।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

वहाँ दोनों सेनाओं में विद्यमान बड़े-बूढ़े, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और स्नेहियों को अर्जुन ने देखा। इन सब बांधवों को यों खड़ा देखकर, खेद उत्पन्न होने के कारण दीन बने हुए, कुन्तीपुत्र इस प्रकार बोले।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! युद्ध के लिए उत्सुक होकर इकट्ठे हुए इन स्वजन-स्नेहियों को देखकर मेरे गात्र शिथिल होते जा रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीर काँप रहा है और रोयें खड़े हो रहे हैं।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथ से गाण्डीव सरक रहा है, त्वचा बहुत जलती है। मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता, क्योंकि मेरा दिमाग चक्कर-सा खा रहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

इसके सिवा हे केशव ! मैं तो विपरीत लक्षण देख रहा हूँ। युद्ध में स्वजनों को मारकर कुछ श्रेय नहीं देखता।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

उन्हें मारकर न मैं विजय चाहता, न राज्य और न सुख चाहता, हे गोविंद ! मुझे राज्य वा, भोग वा या जिंदगी का क्या काम है ?

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

जिनके लिए राज्य, भोग और सुख की हमने चाहना की वे ये आचार्य, काका, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले और अन्य संबंधीजन जीवन और धन की आशा छोड़कर युद्ध के लिए खड़े हैं ।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

मुझे ये मार डालें अथवा मुझे तीनों लोक का राज्य मिले तो भी, हे मधुसूदन ! मैं उन्हें मारना नहीं चाहता । तो फिर एक जमीन के टुकड़े के लिए कैसे मारूँ ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर मुझे क्या आनंद होगा ? इन आततायियों को भी मारकर हमें पाप ही लगेगा ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इससे हे माधव ! यह उचित नहीं कि अपने ही बांधव धृतराष्ट्र के पुत्रों को हम मारें। स्वजन को ही मारकर कैसे सुखी हो सकते हैं ?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

लोभ से जिनके चित्त मलिन हो गये हैं वे कुलनाश से होने वाले दोष को और मित्रद्रोह के पाप को भले ही न देख सकें, परन्तु हे जनार्दन ! कुलनाश से होनेवाले दोष को समझने वाले हम लोग इस पाप से बचना क्यों न जानें ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल के नाश से सनातन कुलधर्मों का नाश होता है, और धर्म का नाश होने से अधर्म समूचे कुल को डुबो देता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण ! अधर्म की वृद्धि होने से कुलस्त्रियाँ दूषित होती हैं और उनके दूषित होने से वर्ण का संकर होता है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया: ॥४२॥

ऐसे संकर से कुलघातक का और उसके कुल का नरकवास होता है और पिंडोदक क्रिया से वंचित रहने के कारण उसके पितरों की अधोगति होती है ।

दोषैरेतै: कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकै: ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्मा: कुलधर्माश्च शाश्वता: ॥४३॥

कुलघातक लोगों के इस वर्णसंकर को उत्पन्न करनेवाले दोषों से सनातन जातिधर्म और कुलधर्मों का नाश होता है ।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन ! कुलधर्म का नाश हुए मनुष्य का नरक में अवश्य वास होता है ऐसा हम सुनते आये हैं ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यता: ॥४५॥

अहो, कैसे दुःख की बात है कि हम लोग महापाप करने को तुल गये हैं अर्थात् राज्य-सुख के लोभ से स्वजन को मारने को तैयार हो गये हैं ।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणय: ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

निःशस्त्र और सामना न करनेवाले मुझको यदि धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र रण में मार डालें तो वह मेरे लिए बहुत कल्याण-कारक होगा ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय ने कहा—

ऐसा कहकर रण में शोक से व्यग्रचित्त हुए अर्जुन धनुषबाण डालकर रथ के पिछले भाग में बैठ गये ।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'अर्जुन-विषाद योग' नामक पहला अध्याय ।

गी ता–बो ध

पहला अध्याय

११-११-३०
मंगल-प्रभात

पांडव और कौरवों के अपनी सेना सहित युद्ध के मैदान कुरुक्षेत्र में एकत्र होने पर दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास जाकर दोनों दलों के मुख्य-मुख्य योद्धाओं के बारे में चर्चा करता है। युद्ध की तैयारी होने पर दोनों ओर के शंख बजते हैं और अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण भगवान उसका रथ दोनों सेनाओं के बीच में लाकर खड़ा करते हैं। अर्जुन घबराता है और श्रीकृष्ण से कहता है कि मैं इन लोगों से कैसे लड़ूँ? दूसरे हों तो मैं तुरन्त भिड़ सकता हूँ। लेकिन ये तो अपने स्वजन ठहरे। सब चचेरे भाई-बन्धु हैं। हम एक साथ पले हैं। कौरव और पांडव कोई दो नहीं हैं। द्रोण केवल कौरवों के ही आचार्य नहीं हैं, हमें भी उन्होंने सब विद्याएँ सिखाई हैं। भीष्म तो हम सभी के पुरखा हैं। उनके साथ लड़ाई कैसी? माना कि कौरव आततायी हैं; उन्होंने बहुत दुष्ट कर्म किये हैं; अन्याय किये हैं, पांडवों की जगह-जायदाद छीन ली है, द्रोपदी जैसी महा सती का अपमान किया है। यह सब उनके दोष अवश्य हैं। पर मैं उन्हें मारकर कहाँ रहूँगा? ये तो मूढ़ हैं, मैं इन जैसा कैसे बनूँ? मुझे तो कुछ समझ है, सारासार का विवेक है। मुझे यह जानना चाहिए कि अपनों के साथ लड़ने में पाप है। चाहे उन्होंने हमारा हिस्सा हजम कर लिया हो, चाहे वे हमें मार ही डालें, तब भी हम उन

पर हाथ कैसे उठावें ? हे कृष्ण ! मैं तो इन सगे-सम्बन्धियों से नहीं लड़ूँगा ।

इतना कहते-कहते अर्जुन की आँखों के सामने अँधेरा छा गया और वह अपने रथ में गिर पड़ा।

यह पहले अध्याय का प्रसंग है। इसका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' है। विषाद के मानी यहाँ दुःख के होते हैं। जैसा दुःख अर्जुन को हुआ वैसा हम सबको होना चाहिए। धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासा के विना ज्ञान नहीं मिलता। जिसके मन में अच्छे और बुरे का भेद जानने की इच्छा तक नहीं होती, उनके सामने धर्म-चर्चा कैसी ? कुरुक्षेत्र का युद्ध तो निमित्त मात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही हमारा शरीर है और धर्मक्षेत्र भी। यदि इसे हम ईश्वर का निवास-स्थान समझें और बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्र में कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है और ऐसी अधिकांश लड़ाइयाँ 'मेरा' 'तेरा' को लेकर अपने पराये के भेद-भाव से पैदा होती हैं। इसीलिए आगे चलकर भगवान अर्जुन से कहेंगे 'राग' 'द्वेष' सारे अधर्म की जड़ है। जिसे अपना 'माना' उसमें राग पैदा हुआ, जिसे पराया जाना, उसमें द्वेष वैर भाव आ गया। इसलिए 'मेरे'-'तेरे' का भेद भूलना चाहिए, या यों कहिये कि राग-द्वेष को तजना चाहिए। गीता और सभी धर्म-ग्रन्थ पुकार-पुकार कर यही कहते हैं। पर कहना एक बात है और उसके अनुसार करना दूसरी बात। हमें गीता इसके अनुसार करने की भी शिक्षा देती है। 'कैसे' सो आगे समझाने की कोशिश की जायगी।

◆

• २ •

सांख्य योग

मोह के वश होकर मनुष्य अधर्म को धर्म मानता है। मोह के कारण अर्जुन ने अपना और पराया भेद किया। इस भेद को मिथ्या बतलाते हुए श्रीकृष्ण देह और आत्मा की भिन्नता, देह की अनित्यता और पृथकता तथा आत्मा की नित्यता और उसकी एकता बतलाते हैं। मनुष्य केवल पुरुषार्थ का अधिकारी है, परिणाम का नहीं। इसलिए उसे कर्त्तव्य का निश्चय करके निश्चित भाव से उसमें लगे रहना चाहिए। ऐसी परायणता से वह मोक्ष की प्राप्ति को पहुँच सकता है।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय ने कहा—

यों करुणा से दीन बने हुए और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले दुःखी अर्जुन से मधुसूदन ने ये वचन कहे।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—

हे अर्जुन ! श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य, स्वर्ग से विमुख रहने वाला और अपयश देनेवाला यह मोह तुझे ऐसी विषम घड़ी में कहाँ से हो गया ?

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

हे पार्थ ! तू नामर्द मत बन । यह तुझे शोभा नहीं देता। हृदय की पामर निर्बलता का त्याग करके हे परंतप ! तू उठ ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! भीष्म को और द्रोण को रण-भूमि में बाणों से मैं कैसे मारूँ ? हे अरिसूदन ! ये तो पूजनीय हैं ।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

महानुभाव गुरुजनों को मारने के बदले इस लोक में भिक्षान्न खाना भी अच्छा है । क्योंकि गुरुजनों को मारकर तो मुझे रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूप भोग ही भोगने ठहरे ।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

मैं नहीं जानता कि दोनों में क्या अच्छा है, हम जीतें यह, या वे हमें जीतें यह। जिन्हें मारकर मैं जीना नहीं चाहता वे धृतराष्ट्र के पुत्र यह सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कायरता से मेरी (जातीय) वृत्ति मारी गई है। मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया हूँ। इसलिए जिसमें मेरा हित हो, वह मुझसे निश्चयपूर्वक कहने की आपसे प्रार्थना करता हूँ। मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरण में आया हूँ। मुझे मार्ग बतलाइए।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

इस लोक में धन-धान्य-संपन्न निष्कंटक राज्य मिले और इन्द्रासन मिले, तो उसमें भी इन्द्रियों को चूस लेने वाले मेरे शोक को दूर कर सकने-जैसा मैं कुछ नहीं देखता।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय ने कहा—

हे राजन्! गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश गोविंद से ऐसा कहकर, 'नहीं लड़ूँगा' कहते हुए चुप हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भारत! इन दोनों सेनाओं के बीच में उदास होकर बैठे हुए अर्जुन से मुस्कराते हुए हृषीकेश ने ये वचन कहे—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥

श्रीभगवान् बोले—

तू शोक न करने योग्य का शोक करता है, और पंडिताई के बोल बोलता है, परन्तु पंडितजन मृत और जीवितों का शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

क्योंकि वास्तव में देखने पर, मैं, तू या ये राजा किसी काल में नहीं थे अथवा भविष्य में नहीं होंगे, ऐसा कुछ नहीं है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहधारी को जैसे इस शरीर में कौमार, यौवन और जरा की प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह भी मिलती है। उसमें बुद्धिमान् पुरुष को मोह नहीं होता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कौंतेय ! इन्द्रियों के स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दुःख देने वाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सह।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्त्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ। सुख-दुःख में सम रहने वाले जिस बुद्धिमान् पुरुष को ये विषय व्याकुल नहीं करते वह मोक्ष के योग्य बनता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का नाश नहीं है। इन दोनों का निर्णय ज्ञानियों ने जाना है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

जिससे यह अखिल जगत् व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्यय का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

नित्य रहने वाले, अपरिमित और अविनाशी देही की ये देहें नाशवान कही गई हैं, इसलिए हे भारत ! तू युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इसे मारने वाला मानता है और जो इसे मारा हुआ मानता है, वे दोनों कुछ जानते नहीं हैं। यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है; यह था और भविष्य में नहीं होगा ऐसा भी नहीं है। इसलिए यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीर का नाश होने से इसका नाश नहीं होता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पार्थ ! जो पुरुष आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय मानता है वह किसे, कैसे मरवाता है या किसे मारता है ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२२।।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये धारण करता है वैसे देहधारी जीर्ण हुई देह को त्यागकर दूसरी नई देह पाता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२३।।

इस (आत्मा) को शस्त्र छेदते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२४।।

यह छेदा नहीं जा सकता है, ज़लाया नहीं जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। वह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है अचल है, और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

फिर,यह इंद्रिय और मन के लिए अगम्य है, विकारसहित कहा गया है, इसलिए इसे वैसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

अथवा जो तू इसे नित्य जन्मने और मरने वाला माने तो भी, हे महाबाहो ! तुझे शोक करना उचित नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जन्मे हुए के लिए मृत्यु और मरे हुए के लिए जन्म अनिवार्य है। अतः जो अनिवार्य है उसका शोक करना उचित नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत ! भूतमात्र की, जन्म की, पहले की और मृत्यु के पीछे की अवस्था देखी नहीं जा सकती, वह अव्यक्त है, बीच की ही स्थिति व्यक्त होती है। इसमें चिंता का क्या कारण है ?

टिप्पणी—भूत अर्थात् स्थावर-जंगम सृष्टि ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इसे आश्चर्यसमान देखता है, दूसरा उसे आश्चर्यसमान वर्णन करता है, और तीसरा उसे आश्चर्यसमान वर्णन किया हुआ सुनता है, परंतु सुनने पर भी कोई उसे जानता नहीं है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत ! सबकी देह में विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है, इसलिए भूत-मात्र के विषय में तुझे शोक करना उचित नहीं है।

टिप्पणी—यहाँतक श्रीकृष्ण ने बुद्धि प्रयोग से आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व समझाकर बतलाया कि यदि किसी स्थिति में देह का नाश करना उचित समझा जाय तो स्वजनपरिजन का भेद करके कौरव सगे हैं, इसलिए उन्हें कैसे मारा जाय यह विचार मोहजन्य है। अब अर्जुन को बतलाते हैं कि क्षत्रिय-धर्म क्या है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

स्वधर्म को समझ कर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं, क्योंकि धर्म-युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पार्थ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्ग-का द्वार ही खुल गया हो ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

यदि तू यह धर्म-प्राप्त युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

सब लोग तेरी निंदा निरंतर किया करेंगे। और सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बुरी है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

जिन महारथियों से तूने मान पाया है, वे तुझे भय के कारण रण से भागा मानेंगे और तुझे तुच्छ समझेंगे ।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

और तेरे शत्रु तेरे बल की निंदा करते हुए बहुत-सी न कहने योग्य बातें कहेंगे। इससे अधिक दुःखदायी और क्या हो सकता है ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

यदि तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्ग मिलेगा। यदि तू जीतेगा तो पृथ्वी भोगेगा। अतः हे कौन्तेय ! लड़ने का निश्चय करके तू खड़ा हो ।

टिप्पणी—इस प्रकार भगवान् ने आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व बतलाया। फिर यह भी बतलाया कि अनायास प्राप्त युद्ध करने में क्षत्रिय को धर्म की बाधा नहीं होती। इस प्रकार ३१ वें श्लोक से भगवान् ने परमार्थ के साथ उपयोग का मेल मिलाया है। इतना कहकर फिर भगवान् गीता के प्रधान उपदेश का दिग्दर्शन एक श्लोक में कराते हैं।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान समझकर युद्ध के लिए तैयार हो। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

मैने तुझे सांख्यसिद्धांत (तर्कवाद) के अनुसार तेरा यह कर्त्तव्य बतलाया।

अब योगवाद के अनुसार समझाता हूँ सो सुन। इसका आश्रय लेने से तू कर्मबंधन को तोड़ सकेगा।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इसमें आरंभ का नाश नहीं होता, उलटा नतीजा नहीं निकलता। इस धर्म का थोड़ा-सा पालन भी महा भय से बचा लेता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनंदन! योगवादी की निश्चयात्मक बुद्धि एकरूप होती है, परंतु अनिश्चय वालों की बुद्धियाँ अनेक शाखाओं वाली और अनंत होती हैं।

टिप्पणी—जब बुद्धि एक से मिटकर अनेक (बुद्धियाँ) होती हैं! तब वह बुद्धि न रहकर वासना का रूप धारण करती है। इसलिए बुद्धियों से तात्पर्य है वासनायें।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अज्ञानी वेदवादी, 'इसके सिवा और कुछ नहीं है' यह कहने वाले, कामना वाले, स्वर्ग को श्रेष्ठ मानने वाले, जन्म-मरण रूपी कर्म के फल देने वाली, भोग और ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए जाने वाले कर्मों के वर्णन से भरी हुई बातें बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं। भोग और ऐश्वर्य में आसक्त रहने वाले इन लोगों की वह बुद्धि मारी जाती है; इनकी बुद्धि न तो निश्चय वाली होती है और न वह समाधि में ही स्थिर हो सकती है।

टिप्पणी—योगवाद के विरुद्ध कर्म-कांड अथवा वेदवाद का वर्णन उपर्युक्त तीन श्लोकों में आया है। कर्म-कांड या वेदवाद का मतलब फल उपजाने के लिए मंथन करने वाली अगणित क्रियायें। ये क्रियायें वेद के रहस्य से, वेदांत से अलग और अल्प फल वाली होने के कारण निरर्थक हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन ! जो तीन गुण वेद के विषय हैं, उनसे तू अलिप्त रह। सुख दुःखादि द्वंद्वों से मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तु में स्थित रह। किसी वस्तु को पाने और सँभालने के झंझट से मुक्त रह। आत्म-परायण हो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

जैसे जो काम कुएं से निकलते हैं वे सब, सब प्रकार से सरोवर से निकलते हैं, वैसे जो सब वेदों में है वह ज्ञानवान् ब्रह्मपरायण को आत्मानुभव में से मिल रहता है ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्म में ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होने वाले अनेक फलों में कदापि नहीं। कर्म का फल तेरा हेतु न हो। कम न करने का भी तुझे आग्रह न हो।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनंजय ! आसक्ति त्यागकर योगस्थ रहते हुए अर्थात् सफलता-निष्फलता में समान भाव रखकर तू कर्म कर। समता का ही नाम योग है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनंजय ! समत्वबुद्धि की तुलना में केवल कर्म बहुत तुच्छ है। तू समत्वबुद्धि का आश्रय ले। फल को हेतु बनाने वाले मनुष्य दया के पात्र हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्त अर्थात् समता वाले पुरुष को यहाँ पाप-पुण्य का स्पर्श नहीं होता, इसलिए तू समत्व के लिए प्रयत्न कर। समता ही कार्य-कुशलता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

क्योंकि समत्व बुद्धि वाले लोग कर्म से उत्पन्न होने वाले फल का त्याग करके जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और निष्कलंक गति—मोक्षपद—पाते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ से पार उतर जायगी, तब तुझे सुने हुए के विषय में और सुनने को जो बाकी होगा उसके विषय में उदासीनता प्राप्त होगी।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अनेक प्रकार के सिद्धांतों को सुनने से व्यग्र हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में स्थिर होगी तभी तू समत्व को प्राप्त होगा।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोले—

हे केशव! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थ के क्या लक्षण होते हैं? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान् बोले—

हे पार्थ ! जब मनुष्य मन में उठती हुई समस्त कामनाओं का त्याग करता है और आत्मा द्वारा ही आत्मा में संतुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

टिप्पणी—आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट रहना अर्थात् आत्मा का आनंद अंदर से खोजना, सुख-दुःख देने वाली बाहरी चीजों पर आनंद का आधार न रखना । आनंद सुख से भिन्न वस्तु है यह ध्यान में रखना चाहिए । मुझे धन मिलने पर मैं उसमें सुख मानूँ यह मोह है । मैं भिखारी होऊँ, भूख का दुःख होने पर भी चोरी या दूसरे प्रलोभनों में न पड़ने में जो बात मौजूद है वह आनंद देती है और वह आत्म-संतोष है ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःख से जो दुःखी न हो, सुख की इच्छा न रखे और जो राग, भय और क्रोध से रहित हो वह स्थिर बुद्धि मुनि कहलाता है ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

सर्वत्र रागरहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभ की प्राप्ति में न हर्षित होता है, न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कछुआ जैसे सब ओर से अंग समेट लेता है वैसे जब यह पुरुष इंद्रियों को उनके विषयों में से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मन्द पड़ जाते हैं। परन्तु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने से निवृत्त होता है।

टिप्पणी—यह श्लोक उपवास आदि का निषेध नहीं करता, वरन् उसकी सीमा सूचित करता है। विषयों को शान्त करने के लिए उपवासादि आवश्यक हैं, परन्तु उनकी जड़ अर्थात् उनमें रहने वाला रस तो ईश्वर की झाँकी होने पर ही निवृत्त होता है। ईश्वर-साक्षात्कार का जिसे रस लग जाता है वह दूसरे रसों को भूल ही जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौन्तेय! चतुर पुरुष के उद्योग करते रहने पर भी इंद्रियाँ ऐसी प्रमथनशील हैं कि उसके मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इन सब इन्द्रियों को वश में रखकर योगी को मुझमें तन्मय ही रहना चाहिए। क्योंकि अपनी इन्द्रियाँ जिसके वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।

टिप्पणी—तात्पर्य, भक्ति के बिना—ईश्वर की सहायता के बिना—मनुष्य का प्रयत्न मिथ्या है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति में से कामना होती है और कामना में से क्रोध उत्पन्न होता है।

टिप्पणी—कामना वाले के लिए क्रोध अनिवार्य है, क्योंकि काम कभी तृप्त होता ही नहीं।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोध में से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रान्त हो जाती है, स्मृति भ्रान्त होने से ज्ञान का नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक तुल्य है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परन्तु जिसका मन अपने अधिकार में है और जिसकी इंद्रियाँ राग-द्वेष-रहित होकर उसके वश में रहती हैं, वह मनुष्य इन्द्रियों का व्यापार चलाते हुए भी चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं। और प्रसन्नता प्राप्त हो जाने वाले की बुद्धि तुरंत ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं, उसे भक्ति नहीं, और जिसे भक्ति नहीं उसे शांति नहीं है। और जहाँ शांति नहीं, वहाँ सुख कहाँ से हो सकता है?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

विषय में भटकने वाली इन्द्रियों के पीछे जिसका मन दौड़ता है उसका मन वायु जैसे नौका को जल में खींच ले जाता है वैसे ही उसकी बुद्धि को जहाँ चाहे खींच ले जाता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियाँ चारों ओर के विषयों में से निकल कर उसके वश में आ जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जागता रहता है। जब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है।

टिप्पणी—भोगी मनुष्य रात के बारह-एक बजे तक नाच-रंग, खान-पान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सवेरे सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी रात के सात आठ बजे सोकर मध्यरात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं। इसके सिवा भोगी संसार का प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वर को भूलता है, उधर संयमी सांसारिक प्रपंचों से बेखबर रहता है और ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार दोनों का पथ न्यारा है। यह इस श्लोक में भगवान् ने बतलाया है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

नदियों के प्रवेश से भरता रहने पर भी जैसे समुद्र अचल रहता है, वैसे ही जिस मनुष्य में संसार के भोग शांत हो जाते हैं, वही शांति प्राप्त करता है, न कि कामना वाला मनुष्य।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

सब कामनाओं का त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार-रहित होकर विचरता है, वही शांति पाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ ! ईश्वर को पहचानने वाले की स्थिति ऐसी होती है। उसे पाने पर फिर वह मोह के वश नहीं होता और यदि मृत्युकाल में भी ऐसी ही स्थिति टिके तो वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'सांख्य योग' नामक दूसरा अध्याय



गीता-बोध

दूसरा अध्याय

१७-११-३०

सोम-प्रभात

अर्जुन को जब कुछ चेत हुआ तो भगवान् ने उसे उलाहना दिया और कहा कि यह मोह तुझे कहाँ से आ गया? तेरे जैसे वीर पुरुष को यह शोभा नहीं देता। पर अर्जुन का मोह यों टलनेवाला नहीं था। वह लड़ने से इन्कार करके बोला, इन सगे-संबंधियों और गुरुजनों को मारकर, मुझे राज-पाट तो दरकिनार, स्वर्ग का सुख भी नहीं चाहिए। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। ऐसी स्थिति में धर्म क्या है, यह मुझे नहीं सूझता, मैं आपकी शरण हूँ, मुझे बतलाइये।

इस भाँति अर्जुन को बहुत व्याकुल और जिज्ञासु देखकर भगवान्‌को दया आई। वह उसे समझाने लगे; तू व्यर्थ दुःखी होता है और बे-समझे-बूझे ज्ञान की बातें करता है। जान पड़ता है कि तू देह और देह में रहने वाले आत्मा का भेद ही भूल गया है। देह मरती है, आत्मा नहीं मरती। देह तो जन्म से ही नाशवान है, देह में जैसे जवानी और बुढ़ापा आता है वैसे ही उसका नाश भी होता है। देह का नाश होने पर देही का नाश कभी नहीं होता है। देह का जन्म है, आत्मा का जन्म नहीं है; वह तो अजन्मा है। उसे बढ़-घट नहीं है। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहने वाला है। फिर तू काहे का शोक करता है? तेरा शोक तेरे मोह के कारण है। इन कौरव आदि को तू अपना मानता है, इसलिए तुझे ममता हो गई है। पर तुझे समझना चाहिए कि जिस देह से तुझे ममता है वह तो नाशवान

ही है। उसमें रहने वाले जीव का विचार करने पर तो तत्काल तेरी समझ में आ जायगा कि उसका नाश तो कोई कर ही नहीं सकता। उसे न अग्नि जला सकती है, न वह पानी में डूब सकता है, न वायु उसे सुखा सकता है। इसके सिवा, तू अपने धर्म को तो सोच ! तू तो क्षत्रिय है। तेरे पीछे यह सेना इकट्ठी हुई है। अब अगर तू कायर बन जाय तो तू जो चाहता है उससे उलटा नतीजा होगा और तेरी हँसी होगी। आजतक तेरी गिनती बहादुरों में हुई है। अब यदि तू अधबीच में लड़ाई छोड़ देगा तो लोग कहेंगे कि अर्जुन कायर होकर भाग गया। यदि भागने में धर्म होता तो लोक-निंदा की कोई परवाह न थी। पर यहाँ तो यदि तू भागे तो अधर्म होगा और लोक-निंदा उचित समझी जायगी यह दोहरा दोष होगा।

यह तो मैंने तेरे सामने बुद्धि की दलील रखी, आत्मा और देह का भेद बताया, और तेरे कुलधर्म का तुझे भान कराया। पर अब तुझे मैं कर्मयोग की बात समझाता हूँ। इस योग पर अमल करने वाले को कभी नुकसान नहीं होता। इसमें तर्क की बात नहीं है, आचरण की है, करके अनुभव पाने की बात है। और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारों मन तर्क की अपेक्षा तोला भर आचरण की कीमत अधिक है। इस आचरण में भी अच्छे, बुरे परिणाम का तर्क आ घुसे तो वह दूषित हो जाता है। परिणाम के विचार से ही बुद्धि मलिन हो जाती है। वेदवादी लोग कर्म-कांड में पड़कर अनेक प्रकार के फल पाने की इच्छा से अनेक क्रियाएँ आरंभ कर बैठते हैं। एक से फल न मिलने पर दूसरी के पीछे दौड़ते हैं। फिर कोई तीसरी बता देता है तो उसके पीछे हैरान होते हैं, और ऐसा करने में उनकी मति भ्रम में पड़ जाती है। वास्तव में मनुष्य का धर्म फल का विचार छोड़कर कर्तव्य-कर्म

किये जाने का है। इस समय यह युद्ध तेरा कर्तव्य है, इसे पूरा करना तेरा धर्म है। लाभ-हानि, हार-जीत तेरे हाथ में नहीं है। तू गाड़ी के नीचे चलने वाले कुत्ते की भाँति इसका बोझ क्यों ढोता है? हार-जीत, सरदी-गरमी, सुख-दुःख देह के साथ लगे ही हुए हैं, उन्हें मनुष्य को सहना चाहिए। जो भी नतीजा हो, उसके विषय में निश्चित रहकर तथा समता रखकर मनुष्य को अपने कर्तव्य में तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है, और इसी में कर्म-कुशलता है। कार्य की सिद्धि कार्य करने में छिपी है, उसके परिणाम में नहीं। तू स्वस्थ हो, फल का अभिमान छोड़, और कर्तव्य का पालन कर।

यह सुनकर अर्जुन पूछता है : यह तो मेरे बूते के बाहर जान पड़ता है। हार-जीत का विचार छोड़ना, परिणाम का विचार ही न करना, ऐसी समता, ऐसी स्थिर बुद्धि कैसे आ सकती है? मुझे समझाइए कि ऐसी स्थिर बुद्धि वाले कैसे होते हैं, उन्हें कैसे पहचाना जा सकता है?

तब भगवान् ने जवाब दिया :

"हे अर्जुन सुन! जिस मनुष्य ने अपनी कामना-मात्र का त्याग किया है और जो अपने अंतर में से ही संतोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित्त, स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दुःख से दुःखी होता है, न सुख से फूल उठता है। सुख दुःखादि पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। इसलिए ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य कछुए की भाँति अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है, पर कछुआ तो जब किसी दुश्मन को देखता है तब अपने अंगों को ढाल के नीचे समेटता है, पर मनुष्य की इन्द्रियों पर तो विषय नित्य चढ़ाई करने को खड़े ही हैं, अतः उसे तो हमेशा इन्द्रियों को समेटे रखना और स्वयं ढाल रूप होकर विषयों के मुकाबले

में लड़ना है। यह असली युद्ध है। कोई तो विषयों से बचने को देह-दमन करता है। यह ठीक है कि उपवास-काल में इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं दौड़तीं, पर अकेले उपवास से रस नहीं सूख जाता। उपवास छोड़ने पर यह तो और भी बढ़ जाता है। रस को दूर करने के लिए तो ईश्वर का प्रसाद चाहिए। इन्द्रियाँ तो ऐसी बलवान् हैं कि वे मनुष्य को उसके सावधान न रहने पर जबरदस्ती घसीट ले जाती हैं। इसलिए मनुष्य को इन्द्रियों को हमेशा अपने वश में रखना चाहिए। पर यह हो, तो तब सकता है जब वह ईश्वर का ध्यान धरे, अंतर्मुख हो, हृदय में रहने वाले अंतर्यामी को पहचाने और उसकी भक्ति करे। इस प्रकार जो मनुष्य मुझमें परायण रहकर अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, वह स्थिर-बुद्धि योगी कहलाता है। इससे विपरीत करने वाले का हाल भी मुझसे सुन। जिसकी इन्द्रियाँ स्वच्छंदरूप से बरतती हैं वह नित्य विषयों का ध्यान धरता है। तब उसमें उसका मन फँस जाता है। इसके सिवा उसे और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी आसक्ति में से काम पैदा होता है। बाद को उसकी पूर्ति न होने पर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर तो बावला-सा हो ही जाता है; आप में नहीं रह जाता। अतः स्मृति-भ्रंश के कारण जो-सो बकता और करता है। ऐसे व्यक्ति का अंत में नाश के सिवा और क्या होगा ? जिसकी इन्द्रियाँ यों भटकती फिरती हैं उसकी हालत पतवार-रहित नाव की-सी हो जाती है। चाहे जो हवा नाव को जिधर-तिधर घसीट ले जाती है और अंत में किसी चट्टान से टकराकर नाव चूर-चूर हो जाती है। जिसकी इन्द्रियाँ भटका करती हैं उसके ये हाल होते हैं। अतः मनुष्य को कामनाओं को छोड़ना और इन्द्रियों पर काबू रखना चाहिए। इससे इन्द्रियाँ न करने योग्य कार्य नहीं करेंगी, आँखें सीधी रहेंगी, पवित्र वस्तु को ही

देखेंगी, कान भगवद्भजन सुनेंगे, या दुःखी की आवाज सुनेंगे। हाथ-पाँव सेवा-कार्य में रुके रहेंगे और ये सब इन्द्रियाँ मनुष्य के कर्तव्य-कार्य में ही लगी रहेंगी और उसमें से उन्हें ईश्वर की प्रसादी मिलेगी। वह प्रसादी मिली कि सारे दुःख गये समझो। सूर्य के तेज से जैसे बर्फ पिघल जाती है वैसे ईश्वर-प्रसादी के तेज से दुःख-मात्र भाग जाते हैं और ऐसे मनुष्य को स्थिरबुद्धि कहते हैं। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसे अच्छी भावना कहाँ से आयगी ? जिसे अच्छी भावना नहीं उसे शांति कहाँ ? जहाँ शांति नहीं वहाँ सुख कहाँ ? स्थिरबुद्धि मनुष्य को जहाँ दीपक की भाँति साफ दिखाई देता है वहाँ अस्थिर मन वाले दुनिया की गड़बड़ में पड़े रहते हैं और देख ही नहीं सकते और ऐसी गड़-बड़ वालों को जो स्पष्ट लगता है वह समाधिस्थ योगी को स्पष्ट रूप से मलिन लगता है और वह उधर नजर तक नहीं डालता। ऐसे योगी की तो ऐसी स्थिति होती है कि नदी-नालों का पानी जैसे समुद्र में समा जाता है वैसे विषय-मात्र इस समुद्र रूप योगी में समा जाते हैं। और ऐसा मनुष्य समुद्र की भाँति हमेशा शांत रहता है। इससे जो मनुष्य सब कामनाएँ तजकर, निरहंकार होकर, ममता छोड़कर, तटस्थरूप से बरतता है, वह शांति पाता है। यह ईश्वर-प्राप्ति की स्थिति है और ऐसी स्थिति जिसकी मृत्यु तक टिकती है वह मोक्ष पाता है।"



• ३ •

कर्मयोग

यह अध्याय गीता का स्वरूप जानने की कुंजी कहा जा सकता है। इसमें कर्म कैसे करना, कौन कर्म करना और सच्चा कर्म किसे कहना चाहिए, यह साफ किया गया है और बतलाया है कि सच्चा ज्ञान पारमार्थिक कर्मों में परिणत होना ही चाहिए।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन! यदि आप कर्म की अपेक्षा बुद्धि को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं तो हे केशव! आप मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं?

टिप्पणी—बुद्धि अर्थात् समत्वबुद्धि।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

आप मिले-जुले वचनों से मेरी बुद्धि को आप शंकाग्रस्त-सी कर रहे हैं। अतः आप मुझे एक ही बात निश्चयपूर्वक कहिये कि जिससे मेरा कल्याण हो।

टिप्पणी—अर्जुन उलझन में पड़ जाता है; क्योंकि एक ओर से भगवान उसे शिथिल हो जाने का उलाहना देते हैं और दूसरी ओर से दूसरे अध्याय के ४६ वें. ५० वें श्लोकों में कर्म-त्याग का आभास मिलता है। गंभीरता से विचारने पर ऐसा नहीं है, यह भगवान् आगे बतलायंगे।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान् बोले—

हे पाप-रहित! इस लोक में मैंने पहले दो अवस्थाएँ बतलाई हैं, एक तो ज्ञानयोग द्वारा सांख्यों की, दूसरी कर्मयोग द्वारा योगियों की।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

कर्म का आरंभ न करने से मनुष्य निष्कर्मता का अनुभव नहीं करता है और न कर्म के केवल बाहरी त्याग से मोक्ष पाता है।

टिप्पणी—निष्कर्मता अर्थात् मन से, वाणी से और शरीर से कर्म न करने का भाव। ऐसी निष्कर्मता का अनुभव कर्म न करने से कोई नहीं कर सकता। तब इसका अनुभव कैसे हो सो अब देखना है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

वास्तव में कोई एक क्षण-भर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।६।।

जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोकता है, परन्तु उन-उन इन्द्रियों के विषयों का चिंतन मन से करता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है।

टिप्पणी—जैसे, जो वाणी को तो रोकता है पर मन में किसी को गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं है; बल्कि मिथ्याचारी है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जब तक मन न रोका जा सके तब तक शरीर को रोकना निरर्थक है। शरीर को रोके बिना मनपर अंकुश आता ही नहीं। परन्तु शरीर के अंकुश के साथ-साथ मन पर अंकुश रखने का प्रयत्न होना ही चाहिए। जो लोग भय या ऐसे बाहरी कारणोंसे शरीरको रोकतेहैं, परंतु मनको नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मन से तो विषय भोगते हैं और मौका पाने पर शरीर से भी भोगने में नहीं चूकते, ऐसे मिथ्याचारी की यहाँ निंदा है। इसके आगे का श्लोक इससे उलटा भाव दरसाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।७।।

परंतु हे अर्जुन! जो इन्द्रियों को मनके द्वारा नियम में रखते हुए संगरहित होकर कर्म करने वाली इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आरंभ करता है वह श्रेष्ठ पुरुष है।

टिप्पणी—इसमें बाहर और भीतर का मेल साधा गया है। मन को अंकुश में रखते हुए भी मनुष्य शरीर द्वारा अर्थात् कर्मेंद्रियों द्वारा कुछ-न-कुछ तो करेगा ही। परंतु जिसका मन अंकुश में है, उसके कान दूषित बातें नहीं सुनेंगे, वरन् ईश्वर-भजन सुनेंगे, सत्पुरुषों की वाणी सुनेंगे। जिसका मन अपने वश में है वह, जिसे हम लोग विषय मानते हैं, उसमें रस नहीं लेता। ऐसा मनुष्य आत्मा को शोभा देने वाले ही कर्म करेगा। ऐसे कर्मों का करना कर्म-मार्ग है। जिसके द्वारा आत्मा का शरीर के बंधन में से छूटने का योग सधे उसका नाम कर्मयोग है। इसमें विषयासक्ति को स्थान हो ही नहीं सकता।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

इसलिए तू नियत कर्म कर। कर्म न करने से कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे शरीर का व्यापार भी कर्म बिना नहीं चल सकता।

टिप्पणी—'नियत' शब्द मूल श्लोक में है उसका संबंध पिछले श्लोक से है। उसमें मन द्वारा इंद्रियों को नियम में रखते हुए संगरहित होकर कर्म करने वाले की स्तुति है। अतः यहाँ नियत कर्म का अर्थात् इन्द्रियों को नियम में रखकर किये जानेवाले कर्म का अनुरोध किया गया है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥

यज्ञार्थ किये जाने वाले कर्म के अतिरिक्त कर्म से इस लोक में बंधन पैदा होता है। इसलिए हे कौंतेय! तू राग-रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर।

टिप्पणी—यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्मा ने कहा— 'यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो । यह तुम्हें इच्छित फल दे ।'

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

'तुम यज्ञ द्वारा देवताओं का पोषण करो । और एक दूसरे का पोषण करके तुम परम कल्याण को पाओ ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

'यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे । उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है ।'

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

टिप्पणी—यहाँ देव का अर्थ है भूत-मात्र, ईश्वर की सृष्टि । भूत-मात्र की सेवा देव-सेवा है, और वह यज्ञ है ।

जो यज्ञ से उबरा हुआ खाने वाले हैं, वे सब पापों से छूट जाते हैं । जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्न में से भूत-मात्र उत्पन्न होते हैं । अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है । वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।१५।।

तू जान ले कि कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है. प्रकृति अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में विद्यमान है ।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।१६।।

इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का जो अनुसरण नहीं करता, वह मनुष्य अपना जीवन पापी बनाता है, इंद्रिय-सुखों में फँसा रहता है, और हे पार्थ ! वह व्यर्थ जीता है ।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१७।।

पर जो मनुष्य आत्मा में रमण करने वाला है, जो उसी से तृप्त रहता है और उसी में संतोष मानता है, उसे कुछ करने को नहीं रहता ।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।१८।।

करने, न करने में उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं है । भूत-मात्र में उसे कोई निजी स्वार्थ नहीं है ।

तस्मादासक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।१९।।

इसलिए तू तो संगरहित रहकर निरन्तर कर्तव्य कर्म कर । असंग रहकर ही कर्म करने वाला पुरुष मोक्ष पाता है ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनकादिक ने कर्म से ही परम सिद्धि प्राप्त की। लोक-संग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना उचित है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं, उसका अनुकरण दूसरे लोग करते हैं। वे जिसे प्रमाण बनाते हैं, उसका लोग अनुकरण करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ! मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करने को नहीं है। पाने योग्य कोई वस्तु न पाई हो, ऐसा नहीं है, तो भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ।

टिप्पणी—सूर्य, चंद्र, पृथ्वी इत्यादि की अविराम और अचूक गति ईश्वर के कर्म सूचित करती है। ये कर्म मानसिक नहीं, किंतु शारीरिक गिने जायंगे। ईश्वर निराकार होते हुए भी शारीरिक कर्म करता है, यह कैसे कहा जा सकता है, इस शंका की गुंजाइश नहीं है। क्योंकि वह अशरीरी होने पर भी शरीरी की तरह आचरण करता हुआ दिखाई देता है। इसलिए वह कर्म करते हुए भी अकर्मी है और अलिप्त है। मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है वैसे मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक, किंतु यंत्र की भाँति ही नियमित काम करना उचित है। मनुष्य की विशेषता यंत्रगति का अनादर करके

स्वेच्छाचारी हो जाने में नहीं है, बल्कि ज्ञान पूर्वक उस गति का अनुकरण करने में है। अलिप्त रहकर, असंग रहकर, यंत्र की तरह कार्य करने से उसे घिस्सा नहीं लगता। वह मरने तक ताजा रहता है। देह अपने नियम के अनुसार समय पर नष्ट होती है, परन्तु उसमें रहने वाला आत्मा जैसा था वैसा ही बना रहता है।

यदि ह्यहं न वर्तयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि मैं कभी अँगड़ाई लेने के लिए भी रुके बिना कर्म में लगा न रहूँ तो हे पार्थ ! लोग सब तरह से मेरे बर्ताव का अनुसरण करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये लोक-भ्रष्ट हो जायं; मैं अव्यवस्था का कर्ता बनूँ और इन लोकों का नाश करूँ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत ! जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानी को आसक्ति रहित होकर लोक-कल्याण की इच्छा से कर्म करना चाहिए।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

कर्म में आसक्त अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि को ज्ञानी डांवाडोल न करे, परन्तु समत्वपूर्वक अच्छे प्रकार से कर्म करके उन्हें सब कर्मों में लगावे।

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

सब कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए होते हैं। अहंकार से मूढ़ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' यह मानता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

हे महाबाहो! गुण और कर्म के विभाग का रहस्य जानने वाला पुरुष 'गुण गुणों में बर्त रहे हैं' यह मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।

टिप्पणी—जैसे श्वासोच्छ्‌वास आदि क्रियाएं अपने-आप होती हैं, उनमें मनुष्य आसक्त नहीं होता और जब उन अंगों को व्याधि होती है तभी मनुष्य को उनकी चिंता करनी पड़ती है या उसे उन अंगों के अस्तित्व का भान होता है, वैसे ही स्वाभाविक कर्म अपने-आप होते हों तो उनमें आसक्ति नहीं होती। जिसका स्वभाव उदार है वह स्वयं अपनी उदारता को जानता तक नहीं; पर उससे दान किये बिना रहा ही नहीं जाता। ऐसी अनासक्ति अभ्यास और ईश्वर-कृपा से प्राप्त होती है।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों से मोहे हुए मनुष्य, गुणों के कर्मों में आसक्त रहते हैं। ज्ञानियों को चाहिए कि वे इन अज्ञानी मंदबुद्धि लोगों को अस्थिर न करें।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अध्यात्मवृत्ति रखकर, सब कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्व को छोड़, रागरहित होकर तू युद्ध कर ।

टिप्पणी—जो देह में विद्यमान आत्मा को पहचानता और उसे परमात्मा का अंश जानता है वह सब परमात्मा को ही अर्पण करेगा । वैसे ही जैसे कि नौकर मालिक के नामपर काम करता है और सब कुछ उसी को अर्पण करता है ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनुसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

श्रद्धा रखकर, द्वेष छोड़कर जो मनुष्य मेरे इस मत के अनुसार चलते हैं, वे भी कर्मबंधन से छूट जाते हैं ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परंतु जो मेरे इस अभिप्राय में दोष निकाल कर उसका अनुसरण नहीं करते, वे ज्ञानहीन मूर्ख हैं। उनका नाश हुआ समझ ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानी भी अपने स्वभाव के अनुसार बरतते हैं, प्राणी-मात्र अपने स्वभाव का अनुसरण करते हैं, वहाँ बलात्कार क्या कर सकता है ?

टिप्पणी—यह श्लोक दूसरे अध्याय के ६१ वें या ६८ वें श्लोक का विरोधी नहीं है। इंद्रियों का निग्रह करते-करते मनुष्य को मर मिटना है, लेकिन फिर भी सफलता न मिले तो निग्रह अर्थात् बलात्कार निरर्थक है। इसमें निग्रह की निंदा नहीं की गई है, स्वभाव का साम्राज्य दिखाया गया है। यह तो मेरा स्वभाव है, यह कहकर कोई खोटाई करने लगे तो वह इस श्लोक का अर्थ नहीं समझता। स्वभाव का हमें पता नहीं चलता। जितनी आदतें हैं सब स्वभाव नहीं हैं। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व-गमन है। अतः आत्मा जब नीचे की ओर जाय तब उसका प्रतिकार करना कर्तव्य है। इसी से नीचे का श्लोक स्पष्ट करता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अपने-अपने विषयों के संबंध में इंद्रियों को राग-द्वेष रहता ही है। मनुष्य को उनके वश न होना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्य के मार्ग में बाधक हैं।

टिप्पणी—कान का विषय है सुनना। जो भावे वह सुनने की इच्छा राग है। जो न भावे वह सुनने की अनिच्छा द्वेष है। 'यह तो स्वभाव है' कहकर राग-द्वेष के वश नहीं होना चाहिए, उनका मुकाबला करना चाहिए। आत्मा का स्वभाव सुख-दुःख से अछूते रहना है। उस स्वभाव तक मनुष्य को पहुँचना है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

पराये धर्म के सुलभ होने पर भी उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्म में मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है

टिप्पणी—समाज में एक का धर्म झाड़ू देने का होता है और दूसरे का धर्म हिसाब रखने का होता है। हिसाब रखनेवाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाय, परंतु झाड़ू देनेवाला अपना धर्म त्याग दे तो वह भ्रष्ट हो जायगा, और समाज को हानि पहुँचेगी। ईश्वर के दरबार में दोनों की सेवा का मूल्य उनकी निष्ठा के अनुसार कूता जायगा। पेशे की कीमत वहाँ तो एक ही होती है। दोनों ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना कर्तव्य-पालन करें तो समान-रूप से मोक्ष के अधिकारी बनते हैं।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले—

हे वार्ष्णेय! मानो बलात्कार से लगता हुआ, न चाहता हुआ भी मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप करता है?

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्री भगवान बोले—

रजोगुण से उत्पन्न होने वाला यह (प्रेरक) काम है, क्रोध है, इसका पेट ही नहीं भरता। यह महा पापी है। इसे इस लोक में शत्रुरूप समझो।

टिप्पणी—हमारा वास्तविक शत्रु अंतर में रहने वाला काम कहिए या क्रोध कहिए वही है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएं से आग या मैल से दर्पण अथवा झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही कामादिरूप शत्रु से यह ज्ञान ढका रहता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौंतेय ! तृप्त न किया जा सकने वाला यह कामरूप अग्नि नित्य का शत्रु है, उससे ज्ञानी का ज्ञान ढका हुआ है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, इस शत्रु के निवास-स्थान हैं। इनके द्वारा ज्ञान को ढककर यह शत्रु देहधारी को बेसुध कर देता है।

टिप्पणी—इंद्रियों में काम व्याप्त होने पर मन मलिन होता है, उससे विवेक-शक्ति मंद पड़ती है, उससे ज्ञान का नाश होता है। देखो अध्याय २, श्लोक ६२-६४ ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

हे भरतर्षभ ! इसलिए तू पहले तो इंद्रियों को नियम में रखकर ज्ञान और अनुभव का नाश करने वाले इस पापी का त्याग अवश्य कर।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इंद्रियाँ सूक्ष्म हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जो बुद्धि से भी अत्यन्त सूक्ष्म है वह आत्मा है।

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि यदि इंद्रियाँ वश में रहें तो सूक्ष्म काम को जीतना सहज हो जाय।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धि से परे आत्मा को पहचान कर और आत्मा द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो ! कामरूप दुर्जय शत्रु का संहार कर।

टिप्पणी—यदि मनुष्य शरीरस्थ आत्मा को जान ले तो मन उसके वश में रहेगा, इंद्रियों के वश में नहीं रहेगा। और मन जीता जाय तो काम क्या कर सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योग शास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'कर्मयोग' नामक

तीसरा अध्याय।



गी ता–बो ध

तीसरा अध्याय

२४-११-३०

सोम प्रभात

स्थितप्रज्ञ के लक्षण सुनकर अर्जुन को ऐसा लगा कि मनुष्य को शांत होकर बैठ रहना चाहिए। उसके लक्षणों में कर्म का तो नाम तक भी उसने नहीं सुना। इसलिए भगवान् से पूछा—"आपके वचनों से तो लगता है कि कर्म से ज्ञान बढ़कर है। इससे मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। यदि ज्ञान अच्छा हो तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों उतार रहे हैं ? मुझे साफ कहिये कि मेरा भला किसमें है ?"

तब भगवान् ने उत्तर दिया :

"हे पापरहित अर्जुन ! आरंभ से ही इस जगत् में दो मार्ग चलते आये हैं, एक में ज्ञान की प्रधानता है और दूसरे में कर्म की। पर तू स्वयं देख ले कि कर्म के बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता, बिना कर्म के ज्ञान आता ही नहीं, सब छोड़कर बैठ जाने वाला मनुष्य सिद्ध पुरुष नहीं कहला सकता।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करायगा। जगत् का यह नियम होने पर भी जो मनुष्य हाथ-पाँव ढीले करके बैठा रहता है और मन में तरह-तरह के मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे, और वह मिथ्याचारी भी गिना जायगा। क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि इन्द्रियों को वश में रख कर, राग-द्वेष छोड़कर, शोर-गुल के बिना, आसक्ति के बिना अर्थात् अनासक्त भाव से, मनुष्य

हाथ-पावों से कुछ कर्म करे, कर्मयोग का आचरण करे ? नियत कर्म—तेरे हिस्से में आया हुआ सेवा-कार्य तू इन्द्रियों को वश में रखकर करता रहे। आलसी की भाँति बैठ रहने से यह कहीं अच्छा है। आलसी होकर बैठ रहने वाले शरीर का अंत में पतन हो जाता है। पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिए कि यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगों को बंधन में रखते हैं। यज्ञ के मानी हैं, अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरे के लिए, परोपकार के लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् संक्षेप में-'सेवा'। और जहाँ सेवा के निमित्त ही सेवा की जायगी वहाँ आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होगा। ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा तू करता रह। ब्रह्मा ने जगत् उपजाने के साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया; मानो हमारे कान में यह मंत्र फूँका कि पृथ्वी पर जाओ एक दूसरे की सेवा करो और फूलो-फलो, जीव-मात्र को देवता रूप जानो, इन देवों की सेवा करके तुम इन्हें प्रसन्न रखो वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना माँगे मनोवांछित फल देंगे। इसलिए यह समझना चाहिए कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है वह चोर है और जो लोगों का, जीव-मात्र का, भाग उन्हें पहुँचाने के बाद खाता है या कुछ भोगता है उसे वह भोगने का अधिकार है अर्थात् वह पाप-मुक्त हो जाता है। इससे उलटा अपने लिए ही कमाता है—मजदूरी करता है—वह पापी है और पाप का अन्न खाता है सृष्टि का नियम ही यह है कि अन्न से जीवों का निर्वाह होता है। अन्न वर्षा से पैदा होता है और वर्षा यज्ञ से अर्थात् जीव-मात्र की मेहनत से उत्पन्न होती है। जहाँ जीव नहीं है वहाँ वर्षा नहीं पाई जाती, जहाँ जीव है वहाँ वर्षा अवश्य है। जीव-मात्र श्रमजीवी है। कोई पड़े-पड़े खा नहीं सकता। और मूढ़ जीवों के लिए जब यह सत्य है तो मनुष्य के लिए यह कितने

अधिक अंश में लागू होना चाहिए ? इससे भगवान् ने कहा, कर्म को ब्रह्मा ने पैदा किया ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षरब्रह्म से हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यज्ञ मात्र में—सेवा-मात्र में—अक्षरब्रह्म परमेश्वर विराजता है। ऐसी इस प्रणाली का मनुष्य अनुकरण नहीं करता वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

मंगलप्रभात

वह कह सकते हैं कि मनुष्य आंतरिक शांति भोगता है और संतुष्ट रहता है उसे कर्म करने से कोई फायदा नहीं, न करने से हानि नहीं है। किसी के संबंध में कोई स्वार्थ उसे न होने पर भी यज्ञ कार्य को वह छोड़ नहीं सकता। इससे तू तो कर्तव्य कर्म नित्य करता रह, पर उसमें राग-द्वेष न रख, उसमें आसक्ति न रख। जो अनासक्ति पूर्वक कर्म का आचरण करता है वह ईश्वर साक्षात्कार करता है। फिर जनक जैसे निःस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धि को प्राप्त हुए, क्योंकि वे लोक-हित के लिए कर्म करते थे। तू तो कैसे इससे विपरीत बरताव कर सकता है? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जाने वाले मनुष्य आचरण करते हैं उसका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख, मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था? पर मैं चौबीसों घंटे बिना थके कर्म करता ही रहता हूँ और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक परिमाण में बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊँ तो जगत् का क्या हो? तू समझ सकता है कि सूर्य, चन्द्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जायं तो जगत् का नाश हो जाय। और इन सबको गति देने वाला, नियम में रखने वाला तो मैं ही ठहरा। किंतु लोगों में और मुझमें इतना फर्क जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, लोग आसक्त हैं वे स्वार्थ में पड़े भागते रहते हैं। यदि तुझ जैसा बुद्धिमान् कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेंगे और

बुद्धि-भ्रष्ट हो जायंगे। तुझे तो आसक्ति-रहित होकर कर्तव्य करना चाहिए। जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य अपने में स्वाभाविक गुणों के वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है वही मानत है कि 'मैं करता हूँ'। साँस लेना यह जीव-मात्र की प्रकृति है, स्वभाव है। आँख पर किसी मक्खी आदि के बैठते ही तुरन्त मनुष्य स्वभावतः ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं साँस लेता हूँ, मैं पलक हिलाता हूँ। इस तरह जितने कर्म किये जायं सब स्वाभाविक रीति से गुण के अनुसार क्यों न किये जायं? उनके लिए अहंकार क्या? और यों ममत्व-रहित सहज कर्म करने का सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्यों में से, अहंकार-वृत्ति का, स्वार्थ का नाश हो जाता है तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत जंजाल में से छूट जाता है। उसके लिए फिर कर्म-बन्धन जैसा कुछ नहीं है, और जहाँ स्वभाव के अनुसार कर्म हो. वहाँ बलात्कार से न करने का दावा करने में ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करने वाला बाहर से चाहे कर्म न करता जान पड़े पर भीतर-भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्म की अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बन्धनकारक है।

तो वास्तव में तो इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष विद्यमान ही है। कानों को यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं; नाक को गुलाब की सुगन्धि भाती है, मल वगैरह की दुर्गन्धि नहीं। सभी इन्द्रियों के सम्बंध में यही बात है। इसलिए मनुष्य को इन राग-द्वेष रूपी दो ठगों से बचना चाहिए। और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मों की शृङ्खला में न पड़े। आज यह

किया, कल दूसरा काम हाथ में लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे। बल्कि अपने हिस्से में जो सेवा आ जाय उसे ईश्वरीय प्रीत्यर्थ करने को तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं वह ईश्वर ही करता है। यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहंभाव चला जायगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म में रहना चाहिए, क्योंकि अपने लिए तो वही अच्छा है। देखने में परधर्म अच्छा दिखाई दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिए। स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है।

भगवान् के राग-द्वेष-रहित होकर किये जाने वाले कर्म को यज्ञरूप बतलाने पर अर्जुन ने पूछा : "मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप-कर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पाप-कर्म की ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेल ले जाता है।"

भगवान् बोले : "मनुष्य को पाप-कर्म की ओर ढकेल ले जाने वाला काम है, और क्रोध है। दोनों सगे भाई की भाँति हैं, काम की पूर्ति के पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोध वाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्य के महान् शत्रु यही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़ने से दर्पण धुँधला हो जाता है, या अग्नि धुएँ के कारण ठीक नहीं जल पाती और गर्भ झिल्ली में पड़े रहने तक घुटता रहता है उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानी के ज्ञान को प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं, या दबा देते हैं। काम अग्नि के समान विकराल है और इंद्रिय, मन, बुद्धि सब पर अपना काबू करके मनुष्य को पछाड़ देता है। इसलिए तू इंद्रियों से पहले निपट, फिर मन को जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी। क्योंकि इंद्रियाँ, मन और बुद्धि यद्यपि क्रमशः एक दूसरे से बढ़-चढ़कर हैं तथापि आत्मा उन सब से बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मनुष्य को आत्मा की, अपनी शक्ति का पता नहीं

है, इसलिए वह मानता है कि इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं, मन वश में नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इन्द्रियों को, मन और बुद्धि को ठिकाने रखने वाले का काम, क्रोध या असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।"

इस अध्याय को मैंने गीता समझने की कुंजी कहा है। एक वाक्य में उसका सार यह जान पड़ता है कि जीवन सेवा के लिए है, भोग के लिए नहीं है, अतः हमें जीवन को यज्ञमय बना डालना उचित है। पर इतना जान लेने-भर से वैसा हो जाना संभव नहीं हो जाता। जानकर आचरण करने पर हम उत्तरोत्तर शुद्ध होते जायंगे। पर सच्ची सेवा क्या है, यह जानने को इन्द्रिय-दमन आवश्यक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर हम सत्यरूपी परमात्मा के निकट होते जाते हैं। युग-युग में हमें सत्य की अधिक झाँकी होती है। स्वार्थ-दृष्टि से होने वाला सेवा'कार्य यज्ञ नहीं रह जाता। अतः अनासक्ति की बड़ी आवश्यकता है। इतना जानने पर हमें इधर-उधर के वाद-विवाद में नहीं उलझना पड़ता। भगवान ने अर्जुन को क्या सचमुच ही स्वजनों को मारने की शिक्षा दी? क्या उसमें धर्म था? ऐसे प्रश्न जाते रहते हैं। अनासक्ति आने पर यों ही हमारे हाथ में किसी को मारने को छुरी हो तो वह भी छूट जाती है पर अनासक्ति का ढोंग करने से वह नहीं आती। हमारे प्रयत्न पर वह आज आ सकती है अथवा संभव है हजारों वर्षतक प्रयत्न करते रहने पर भी न आवे। इसका भी फिकर छोड़ देना चाहिए। प्रयत्न में ही सफलता है। यह हमें सूक्ष्मता से जीवित रहना चाहिए कि प्रयत्न वास्तव में हो रहा है या नहीं। इसमें आत्मा को धोखा नहीं देना चाहिए। और इतना ध्यान रखना तो सभी के लिए संभव है।

◆ ४ ◆

ज्ञान-कर्म-संन्यास योग

इस अध्याय में तीसरे का विशेष विवेचन है। और भिन्न-भिन्न प्रकार के कई यज्ञों का वर्णन है।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

श्री भगवान् बोले—

यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान से (सूर्य से) कहा। उन्होंने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

इस प्रकार परंपरा से प्राप्त, राजर्षियों का जाना हुआ वह योग दीर्घकाल के बल से नष्ट हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वही पुरातन योग मैंने आज तुझसे कहा है। कारण, तू मेरा भक्त है और यह योग उत्तम मर्म की बात है।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुन बोले—

आपका जन्म तो अभी हुआ है, विवस्वान का पहले हो चुका है, तब मैं कैसे जानूँ कि आपने वह (योग) पहले कहा था?

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन! मेरे और तेरे जन्म तो बहुत हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

मैं अजन्मा, अविनाशी और इसके सिवा भूत-मात्र का ईश्वर हूँ, तथापि अपने स्वभाव को लेकर अपनी माया के बल से जन्म ग्रहण करता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत! जब-जब धर्म मन्द पड़ता है, अधर्म जोर करता है, तब-तब मैं जन्म धारण करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥८॥

साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश तथा धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए युग-युग में मैं जन्म लेता हूँ ।

टिप्पणी—यहाँ श्रद्धालु को आश्वासन है, और सत्य की—धर्म की—अविचलता की प्रतिज्ञा है । इस संसार में उतार-चढ़ाव हुआ ही करता है, परन्तु अन्त में धर्म की ही जय होती है । संतों का नाश नहीं होता, क्योंकि सत्य का नाश नहीं होता । दुष्टों का नाश ही है, क्योंकि असत्य का अस्तित्व नहीं है । मनुष्य को चाहिए कि इसका ख्याल रखकर अपने कर्तापन के अभिमान के कारण हिंसा न करे, दुराचार न करे । ईश्वर की गहन माया अपना काम करती ही रहती है । यही अवतार या ईश्वर का जन्म है । वस्तुतः तो ईश्वर का जन्मना होता ही नहीं ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन इस प्रकार जो मेरे दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य जानता है वह शरीर का त्याग करके पुनर्जन्म नहीं पाता, बल्कि मुझे पाता है ।

टिप्पणी—क्योंकि जब मनुष्य का दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ईश्वर सत्य की ही जय कराता है तब वह सत्य को नहीं छोड़ता धीरज रखता है, दुःख सहन करता है और ममता रहित रहने के कारण जन्म-मरण के चक्कर से छूटकर ईश्वर का ही ध्यान धरते हुए उसी में लय हो जाता है ।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित हुए मेरा ही ध्यान धरते हुए मेरा ही आश्रय लेने वाले ज्ञानरूपी तप से पवित्र हुए बहुतों ने मेरे स्वरूप को पाया है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं, उस प्रकार मैं उन्हें फल देता हूँ। चाहे जिस तरह भी हो, हे पार्थ ! मनुष्य मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं—मेरे शासन में रहते हैं।

टिप्पणी—तात्पर्य, कोई ईश्वरी नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता। जैसा बोता है वैसा काटता है; जैसा करता है वैसा भरता है। ईश्वरी कानून में—कर्म के नियम में अपवाद नहीं है। सबको समान अर्थात् अपनी योग्यता के अनुसार न्याय मिलता है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्म की सिद्धि चाहने वाले इस लोक में देवताओं को पूजते हैं। इससे उन्हें कर्मजनित फल तुरंत मनुष्यलोक में ही मिल जाता है।

टिप्पणी—देवता से मतलब स्वर्ग में रहने वाले इंद्र-वरुणादि व्यक्तियों से नहीं है। देवता का अर्थ है ईश्वर की अंशरूपी शक्ति। इस अर्थ में मनुष्य भी देवता है। भाप, बिजली आदि महान शक्तियाँ देवता हैं। उनकी आराधना करने का फल तुरंत

और इस लोक में मिलता हुआ हम देखते हैं। वह फल क्षणिक होता है। वह आत्मा को ही सन्तोष नहीं देता तो मोक्ष तो दे ही कहाँ से सकता है ?

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

गुण और कर्म के विभागानुसार चार वर्ण मैंने उत्पन्न किये हैं, उनका कर्त्ता होने पर भी मुझे तू अविनाशी अकर्त्ता जानना।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म स्पर्श नहीं करते हैं। मुझे इनके फल की लालसा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं, वे कर्म के बन्धन में नहीं पड़ते।

टिप्पणी—क्योंकि मनुष्य के सामने, कर्म करते हुए अकर्मी रहने का सर्वोत्तम दृष्टांत है। और सबका कर्ता ईश्वर ही है, हम निमित्त-मात्र ही हैं, तो फिर कर्तापन का अभिमान कैसे हो सकता है ?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

ऐसे जानकर पूर्वकाल में मुमुक्षु व्यक्तियों ने कर्म किये हैं। इससे तू भी पूर्वज जैसे सदा से करते आये हैं वैसे कर।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषय में समझदारों को भी मोह हुआ । उस कर्म के विषय में मैं तुझे यथार्थरूप से बतलाऊँगा । उसे जानकर तू अशुभ से बचेगा ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्म, निषिद्धकर्म, और अकर्म का भेद जानना चाहिए । कर्म की गति गूढ़ है ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

कर्म में जो अकर्म देखता है और अकर्म में जो कर्म देखता है, वह लोगों में बुद्धिमान् गिना जाता है । वह योगी है और वह सम्पूर्ण कर्म करने वाला है ।

टिप्पणी—कर्म करते हुए भी जो कर्तापन का अभिमान नहीं रखता, उसका कर्म अकर्म है, और जो कर्म का बाहर से त्याग करते हुए भी मन के महल बनाता ही रहता है, उसका अकर्म कर्म है । जिसे लकवा हो गया है वह जब इरादा करके—अभिमानपूर्वक—बेकार हुए अंग को हिलाता है, तब हिलता है । वह बीमार अंग को हिलाने रूपी क्रिया का कर्ता बना । आत्मा का गुण अकर्ता का है । मोहग्रस्त होकर अपने को कर्ता मानने वाले आत्मा को मानो लकवा हो गया है, और वह अभिमानी होकर कर्म करता है । इस भाँति जो कर्म की गति को जानता है, वही बुद्धिमान् योगी कर्तव्य-परायण गिना जाता है । 'मैं करता हूँ' यह मानने वाला कर्म-विकर्म का भेद भूल जाता है, और साधन के भले-बुरे का विचार नहीं करता । आत्मा की स्वाभाविक

गति ऊर्ध्व है, इसलिए जब मनुष्य नीति-मार्ग से हटता है, तब यह कहा जाना चाहिए कि उसमें अहंकार अवश्य है। अभिमान-रहित पुरुष के कर्म स्वभाव से ही सात्त्विक होते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके समस्त आरंभ कामना और संकल्प-रहित हैं, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो गये हैं, ऐसे को ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

जिसने कर्म-फल का त्याग किया है, जो सदा संतुष्ट रहता है, जिसे किसी आश्रय की लालसा नहीं है, वह कर्म में अच्छी तरह लगा रहने पर भी, कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नहीं करता।

टिप्पणी—अर्थात् उसे कर्म का बंधन भोगना नहीं पड़ता।

निराशीर्यत चित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो आशा-रहित है, जिसका मन अपने वश में है, जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है और जिसका शरीर-भर ही कर्म करता है, वह करते हुए भी दोषी नहीं होता।

टिप्पणी—अभिमान पूर्वक किया हुआ कुल-कर्म चाहे जैसा सात्त्विक होने पर भी, बंधन करने वाला है। वह जब ईश्वरार्पण बुद्धि से बिना अभिमानके होता है तब बंधन-रहित बनता है।

जिसका 'मैं' शून्यता को प्राप्त हो गया है, उसकाशरीर-भर ही कर्म करता है। सोते हुए मनुष्य का शरीर-भर ही कर्म करता है, यह कहा जा सकता है। जो कैदी विवश होकर अनिच्छा से हल चलाता है, उसका शरीर ही काम करता है। जो अपनी इच्छा से ईश्वर का कैदी बना है, उसका भी शरीर-भर ही काम करता है। खुद तो शून्य बन गया है, प्रेरक ईश्वर है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

जो यथा-लाभ से संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वंद्वों से मुक्त हो गया है, जो द्वेष-रहित हो गया है, जो सफलता, निष्फलता में तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी बंधन में नहीं पड़ता है।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जो आसक्ति रहित है, जिसका चित्त ज्ञानमय है, जो मुक्त है और जो यज्ञार्थ ही कर्म करने वाला है, उसके सारे कर्म लय हो जाते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

(यज्ञ में) अर्पण ब्रह्म है, हवन की वस्तु—हवि ब्रह्म है, ब्रह्म-रूपी अग्नि में हवन करने वाला भी ब्रह्म है; इस प्रकार कर्म के साथ जिसने ब्रह्म का मेल साधा है वह ब्रह्म को ही पाता है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

इसके सिवा कितने ही योगी देवताओं का पूजनरूपी यज्ञ करते हैं, और कितने ही ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ को ही होमते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

और कितने ही श्रवणादि इन्द्रियों का संयमरूप यज्ञ करते हैं, और कुछ शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में होमते हैं।

टिप्पणी—सुनने की क्रिया इत्यादि का संयम करना एक बात है, और इन्द्रियों को उपयोग में लाते हुए उनके विषयों को प्रभु-प्रीत्यर्थ काम में लाना दूसरी बात है, जैसे भजनादि सुनना। वस्तुतः तो दोनों एक हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

और कितने ही समस्त इन्द्रिय-कर्मों को और प्राण-कर्मों को ज्ञान-दीपक से प्रज्वलित की हुई आत्म-संयम रूपी योगाग्नि में होमते हैं।

टिप्पणी—अर्थात् परमात्मा में तन्मय हो जाते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

इस प्रकार कोई यज्ञार्थ द्रव्य देने वाले होते हैं; कोई तप करने वाले होते हैं। कितने ही अष्टांग योग साधने वाले होते हैं। कितने ही स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ करते हैं। ये सब कठिन व्रतधारी प्रयत्नशील याज्ञिक हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२६॥

कितने ही प्राणायाम में तत्पर रहने वाले अपान को प्राण वायु में होमते हैं, प्राण को अपान में होमते हैं, अथवा प्राण और अपान दोनों का अवरोध करते हैं ।

टिप्पणी—ये तीन प्रकार के प्राणायाम हैं—रेचक, पूरक और कुंभक । संस्कृत में प्राण वायु का अर्थ गुजराती- (और हिन्दी) की अपेक्षा उल्टा है । वहाँ प्राण वायु अन्दर से बाहर निकालने वाली वायु को कहते हैं । हम बाहर से जिसे अन्दर खींचते हैं उसे प्राणवायु (आक्सीजन) कहते हैं ।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

इसके सिवा दूसरे आहार का संयम करके प्राणों को प्राण में होमते हैं । यज्ञों द्वारा अपने पापों को क्षीण करने वाले ये सब यज्ञ के जानने वाले हैं ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुसत्तम ! यज्ञ से बचा हुआ अमृत खाने वाले लोग सनातन ब्रह्म को पाते हैं । यज्ञ न करने वाले के लिए यह लोक नहीं है, तो परलोक तो हो ही कहाँ सकता है ?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इस प्रकार वेद में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन हुआ है। इन सबको कर्म से उत्पन्न हुआ जान। इस प्रकार सबको जानकर तू मोक्ष पायगा।

टिप्पणी—यहाँ कर्म का व्यापक अर्थ है, अर्थात् शारीरिक मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना, इसका नाम यज्ञों का जानना है। तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्मा को प्रभु-प्रीत्यर्थ—लोक-सेवार्थ काम में न लावे तो वह चोर ठहरता है और काम में लावे और शरीर तथा आत्मा को चुरावे तो यह पूरा याज्ञिक नहीं है; इन शक्तियों को प्राप्त किये बिना उसका परोपकारार्थ उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए आत्म-शुद्धि के बिना लोक-सेवा असंभव है सेवक को शरीर, बुद्धि और आत्मा अर्थात् नीति, तीनों का समान रूप से विकास करना कर्त्तव्य है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है, क्योंकि हे पार्थ! कर्म-मात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुँचते हैं।

टिप्पणी—परोपकार-वृत्ति से दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञान पूवक न दिया गया हो तो बहुत बार हानि करता है, यह किसने अनुभव नहीं किया है? अच्छी वृत्ति से होने वाले सब कर्म तभी शोभा देते हैं जब उनके साथ ज्ञान का मेल हो। इस-लिए कर्म-मात्र की पूर्णाहुति तो ज्ञान में ही है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

इसे तू तत्त्व को जानने वाले ज्ञानियों की सेवा करके और नम्रता पूर्वक विवेक सहित बारंबार प्रश्न करके जानना। वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे।

टिप्पणी—ज्ञान प्राप्त करने की तीन शर्तें–प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इस युग में खूब ध्यान में रखने योग्य हैं। प्रणिपात अर्थात् नम्रता, विवेक; परिप्रश्न अर्थात् बारंबार पूछना; सेवा-रहित नम्रता खुशामद में शुमार हो सकती है। फिर ज्ञान खोज के बिना संभव नहीं है, इसलिए जब तक समझ में न आवे, तब तक शिष्य का गुरु से नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते रहना जिज्ञासा की निशानी है। इसमें श्रद्धा की आवश्यकता है। जिस पर श्रद्धा नहीं होती उसकी ओर हार्दिक नम्रता नहीं होती; उसकी सेवा तो हो ही कहाँ से सकती है ?

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

यह ज्ञान पाने के बाद हे पांडव ! तुझे फिर ऐसा मोह न होगा। इस ज्ञान के द्वारा तू भूत-मात्र को आत्मा में और मुझ में देखेगा।

टिप्पणी—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का यही अर्थ है। जिसे आत्म-दर्शन हो गया है वह अपनी और दूसरे की आत्मा में भेद नहीं देखता।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

तू समस्त पापियों में बड़े-से-बड़ा पापी होने पर भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा सब पापों को पार कर जायगा ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है । योग में—समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय पर अपने-आप उस ज्ञान को पाता है ।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान, ईश्वर-परायण, जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरन्त परम शांति को पाता है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

जो अज्ञानी और श्रद्धा-रहित होकर संशयवान है, उसका नाश होता है । संशयवान के लिए न तो यह लोक है, न परलोक; उसे कहीं सुख नहीं है ।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

जिसने समत्व रूपी योग द्वारा कर्मों का अर्थात् कर्म-फल का त्याग किया है और ज्ञान द्वारा संशय को छिन्न कर डाला है वैसे आत्म-दर्शी को हे धनञ्जय ! कर्म बन्धन रूप नहीं होते ।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए हे भारत ! हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए संशय को आत्म-ज्ञान रूप तलवार से नष्ट करके योग—समत्व धारण करके खड़ा हो ।

ॐ तत्सत

इति श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'ज्ञान-कर्म-संन्यास योग' नामक चौथा अध्याय ।

गीता-बोध

चौथा अध्याय

१-१२-३०

सोमप्रभात

भगवान् ने अर्जुन से कहा कि मैंने जो निष्काम कर्मयोग तुझे बतलाया है वह बहुत प्राचीन काल से चला आता है, यह नया नहीं है। तू प्रिय भक्त है इसलिए उसमें से मुक्त करने के लिए, मैंने तेरे सामने इसे रखा है। जब-जब धर्म की निंदा होती है और अधर्म फैलता है तब-तब मैं अवतार लेता हूँ और भक्तों की रक्षा करता हूँ, पापी का संहार करता हूँ,। मेरी इस माया को जो जानने वाला है वह विश्वास रखता है कि अधर्म का लोप अवश्य होगा, साधु पुरुष का रक्षक ईश्वर है। ऐसे मनुष्य धर्म का त्याग नहीं करते और अंत में मुझे पाते हैं। क्योंकि वे मेरा ध्यान धरने वाले, मेरा आश्रय लेने वाले होने के कारण काम-क्रोधादि से मुक्त रहते हैं और तप तथा ज्ञान से शुद्ध हुए रहते हैं। मनुष्य जैसा करता है वैसा फल पाता है। मेरे नियमों से बाहर कोई रह नहीं सकता। गुण-कर्म-भेद से मैंने चार वर्ण पैदा किये हैं। फिर भी मुझे उनका कर्ता मत समझ। क्योंकि मुझे इस कर्म में से किसी फल की आकांक्षा नहीं है, न इसका पाप-पुण्य मुझे होता है। यह ईश्वरी माया समझने योग्य है। जगत् में जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, सब ईश्वरी नियमों के आधीन होती हैं, फिर भी ईश्वर अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्ता है और अकर्ता भी। यों अलिप्त रहकर, अछूत रहकर, फलेच्छा से रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है, और ऐसे

मनुष्य को न करने योग्य कर्म का भी तुरन्त पता चल जाता है। कामना से संबन्धित कर्म, जो कामना के बिना हो ही नहीं सकते वे सब, न करने योग्य कर्म कहलाते हैं—उदाहरण के लिए, चोरी, व्यभिचार इत्यादि। ऐसे कर्म कोई अलिप्त रहकर नहीं कर सकता। इसलिए जो कामना और संकल्प छोड़कर कर्तव्य-कर्म करता है उसके बारे में कहा जाता है कि उसने अपनी ज्ञान-रूपी अग्नि द्वारा अपने कर्मों को जला डाला है। यों कर्म-फल का संग छोड़ने वाला मनुष्य सदा संतुष्ट रहता है, सदा स्वतन्त्र होता है। उसका मन ठिकाने होता है। वह किसी संग्रह में नहीं पड़ता और जैसे आरोग्यवान् पुरुष की शारीरिक क्रियाएँ अपने-आप चलती रहती हैं उसी प्रकार ऐसे मनुष्य की प्रवृत्तियाँ अपने-आप चला करती हैं। उनके अपने चलाने का उसे अभिमान नहीं होता, भान तक नहीं होता। वह स्वयं निमित्त-मात्र रहता है—सफलता मिली तो भी वाह-वाह, न मिली तो भी सफलता से वह फूल नहीं उठता, विफलता से घबराता नहीं। उसके सब कर्म यज्ञरूप, सेवा के लिए होते हैं। वह सारी क्रियाओं में ईश्वर को ही देखता है और अन्त में उसी को पाता है।

यज्ञ तो अनेक प्रकार के कहे गये हैं। उन सबके मूल में शुद्धि और सेवा होती है। इन्द्रिय-दमन एक प्रकार का यज्ञ है। किसी को दान देना दूसरी प्रकार का। प्राणायामादि भी शुद्धि के लिए आरंभ किये जाने वाले यज्ञ हैं। इनका ज्ञान किसी गुरू से प्राप्त किया जा सकता है। वह मिलाप, विनय, लगन और सेवा से ही संभव है। यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञ के नाम पर अनेक प्रवृत्तियाँ करने लग जायं तो अज्ञान के निमित्त होने के कारण भले के बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरेक काम के ज्ञानपूर्वक होने की पूरी आवश्यकता है।

यहाँ ज्ञान से मतलब अक्षर-ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान में शंका की कोई गुंजायश ही नहीं रहती। उसका श्रद्धा से आरंभ होता है और अंत में उसका अनुभव आता है। ऐसे ज्ञान से मनुष्य सब जीवों को अपने में देखता है और अपने को ईश्वर में देखता है, यहाँतक कि यह सब प्रत्यक्ष की भाँति उसे ईश्वरमय लगता है। ऐसा ज्ञान पापी-से-पापी को भी तार देता है। यह ज्ञान कर्म-बन्धन में से मनुष्य को मुक्त करता है अर्थात् कर्म का फल उसे स्पर्श नहीं करता। इसके समान पवित्र कोई नहीं। इसलिए तू श्रद्धा रखकर, ईश्वर-परायण होकर, इन्द्रियों को वश में रखकर ऐसा ज्ञान पाने का प्रयत्न कर, उससे तुझे परम शांति मिलेगी।

तीसरा, चौथा और पाँचवाँ अध्याय, तीनों एक साथ मनन करने योग्य हैं। उनमें से अनासक्ति योग क्या है इसका अनुमान हो जाता है। इस अनासक्ति—निष्कामता के मिलने का उपाय भी उनमें थोड़े-बहुत अंश में बतलाया गया है। इन तीन अध्यायों को यथार्थ रूप से समझ लेने पर आगे के अध्यायों में कम कठिनाई पड़ेगी। आगे के अध्याय हमें अनासक्ति-प्राप्ति के साधन की अनेक रीतियाँ बतलाते हैं। हमें इस दृष्टि से गीता का अध्ययन करना चाहिए, इससे अपनी नित्य पैदा होने वाली समस्याओं को हम गीता द्वारा बिना परिश्रम के हल कर सकेंगे। यह नित्य के अभ्यास से संभव होने वाली वस्तु है। सबको आजमा देखनी चाहिए। क्रोध आया कि तुरन्त उससे संबंधित श्लोक का स्मरण करके उसको शान्त करना चाहिए। किसी का द्वेष हो, अधीरता आवे, आहारैषणा आवे, किसी काम को करने या न करने का संकट आवे तो ऐसे सब प्रश्नों का निपटारा, श्रद्धा हो और नित्य मनन हो तो, गीता माता से कराया जा सकता है। इसी के लिए नित्य का यह पारायण है और तदर्थ यह प्रयत्न है।

यज्ञ (१)

२१–१०–३०

मंगलप्रभात

यज्ञ शब्द का व्यवहार बारंबार करते हैं। हमने नित्य का महायज्ञ भी रचा है। इसलिए यज्ञ शब्द का विचार कर लेना जरूरी है। इस लोक में या परलोक में कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना, परार्थ के लिए किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेंगे। कर्म कायिक हो या मानसिक, चाहे वाचिक; कर्म का विशाल-से-विशाल अर्थ लेना चाहिए। 'परार्थ के लिए' का मतलब केवल मनुष्य-वर्ग नहीं बल्कि जीव-मात्र लेना चाहिए। और अहिंसा की दृष्टि से भी, मनुष्य जाति की सेवा के लिए भी, दूसरे जीवों का होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आ सकता। वेदादि में अश्व, गाय इत्यादि को होमने की जो बात आती है उसे हमने गलत माना है। वहाँ पशु-हिंसा का अर्थ लें तो सत्य और अहिंसा की तराजू पर ऐसे होम नहीं चढ़ सकते, इतने से हमने संतोष मान लिया है। जो वचन धर्म के नाते से प्रसिद्ध हैं उनका ऐतिहासिक अर्थ करने में हम नहीं फँसते और वैसे अर्थों के अन्वेषण की अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं। उस योग्यता की प्राप्ति का प्रयत्न भी हम नहीं करते, क्योंकि ऐतिहासिक अर्थ से जीव-हिंसा संगत भी ठहरे तो भी अहिंसा को सर्वोपरि धर्म मानने के कारण हमारे लिए उस अर्थ को रुचनेवाला आचार त्याज्य है।

उक्त व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते हैं कि जिस कर्म में अधिक-से-अधिक जीवों का, अधिक-से-अधिक क्षेत्र में कल्याण हो, और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिक-

से-अधिक सरलता से कर सकें, और जिसमें अधिक-से-अधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ है या अच्छा यज्ञ है। अतः किसी की भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञ के अलावा किया हुआ कार्य बंधनरूप है यह हमें भगवद्-गीता, और अनुभव भी सिखाता है।

ऐसे यज्ञ के बिना यह जग क्षण-भर भी नहीं टिक सकता, इसीलिए गीताकार ने ज्ञान की कुछ झलक दूसरे अध्याय में दिखाकर तीसरे अध्याय में उसकी प्राप्ति के साधन में प्रवेश कराया है। और साफ शब्दों में कहा है कि हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं। यहाँ तक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और इसलिए यज्ञ किये बिना जो खाता है वह चोरी का खाता है, ऐसी सख्त बात गीताकार ने कह डाली। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञरूप होते हैं। हमारे यज्ञ-सहित जन्मने का मतलब है कि हम हरदम के ऋणी या देनदार हैं। इसलिए हम जग के सदा के गुलाम हैं। और जैसे स्वामी गुलाम को सेवा के बदले में खाना-कपड़ा आदि देता है वैसे ही हमें जगत् का स्वामी हमसे गुलामी लेने के लिए जो अन्न-वस्त्रादि देता है वह कृतज्ञता पूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है उतने का भी हमें हक है; न मिलने पर मालिक को दोष न दें। यह उसकी है, जी चाहे इसे रखे, या न रखे। यह स्थिति दुःखद नहीं है, न दयनीय है, यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक है और इसलिए सुखद और चाहने योग्य है। ऐसे परम सुख के अनुभव के लिए अचल श्रद्धा तो अवश्य चाहिए। अपने लिए कोई चिन्ता न करना, सब परमेश्वर को सौंप देना, ऐसा आदेश मैंने तो सब धर्मों में पाया है।

पर इस वचन से किसी को डरना नहीं चाहिए। मन को स्वच्छ रखकर सेवा का आरंभ करने वाले को उनकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और वैसे ही उसकी श्रद्धा बढ़ती ही जाती ह। जो स्वार्थ छोड़ने को तैयार ही नहीं है, अपनी जन्म की स्थिति को पहचानने को ही तैयार नहीं, उसके लिए तो सेवा के सब मार्ग मुश्किल हैं। उसकी सेवा में तो स्वार्थ की गन्ध आती ही रहेगी। पर ऐसे स्वार्थी जगत् में कम ही मिलेंगे। कुछ-न-कुछ निःस्वार्थ सेवा हम सब जाने-अनजाने करते हां रहते हैं। यही चीज़ विचारपूर्वक करने लगने से हमारी पारमार्थिक सेवा की वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहेगी। उसमें हमारा सच्चा सुख है और जगत् का कल्याण है।

२८-१०-३०

मंगलप्रभात

यज्ञ (२)

यज्ञ के विषय में पिछले सप्ताह लिखकर भी इच्छा पूरी नहीं हुई। जिस चीज को जन्म के साथ लेकर हमने इस संसार में प्रवेश किया है उसके बारे में कुछ अधिक विचार करना व्यर्थ न होगा। यह नित्य-कर्तव्य है, चौबीसों घंटे आचरण में लाने की वस्तु है, इस विचार से और यज्ञ का अर्थ सेवा समझकर 'परोपकाराय सतां विभूतयः' वचन कहा गया है। निष्काम सेवा परोपकार नहीं है, बल्कि अपने निज के ऊपर उपकार है। जैसे कर्ज चुकाना परोपकार नहीं बल्कि अपनी सेवा है' अपने ऊपर उपकार है, अपने ऊपर से भार उतारना है, अपने धर्म को बचाना है। फिर कोई संत की ही पूँजी 'परोपकारार्थ'—अधिक सुन्दर भाषा में कहिये तो—'सेवार्थ' हो सो नहीं है, बल्कि मनुष्य-मात्र की पूँजी सेवार्थ है। और यह होने पर सारे जीवन में भोग का खात्मा हो जाता

है, जीवन त्यागमय हो जाता है। या यों कहिये कि मनुष्य का त्याग ही उसका भोग है। पशु और मनुष्य के जीवन में यह भेद है। जीवन का यह अर्थ जीवन को खुश्क बना देता है, इससे कला का नाश हो जाता है, अनेक लोग यह आरोप करके उक्त विचार को सदोष समझते हैं। पर मेरे खयाल में ऐसा कहना त्याग का अनर्थ करना है। त्याग के मानी संसार से भागकर जंगल में जा बसना नहीं है, बल्कि जीवन की प्रवृत्ति-मात्र में त्याग का होना है। गृहस्थ जीवन त्यागी और भोगी दोनों हो सकता है। मोची का जूते सीना, किसान का खेती करना, व्यापारी का व्यापार करना और नाई का हजामत बनाना त्याग भावना से हो सकता है या उसमें भोग की लालसा हो सकती है। जो यज्ञार्थ व्यापार करता है वह करोड़ों के व्यापार में भी लोक-सेवा का ही खयाल रखेगा, किसी को धोखा न देगा, अकरणीय साहस नहीं करेगा करोड़ों की सम्पत्ति रखते हुए सादगी से रहेगा, करोड़ों कमाते हुए भी किसी की हानि नहीं करेगा, किसी की हानि होती होगी तो करोड़ों से हाथ धो लेगा। कोई इस खयाल से न हँसे कि ऐसा व्यापारी मेरी कल्पना में ही बसता है। संसार के सौभाग्य से ऐसे व्यापारी पश्चिम और पूर्व दोनों में हैं। हाँ चाहे अँगुलियों पर ही गिनने-भर को, पर एक भी जीवित उदाहरण रहने पर उसे फिर कल्पना की वस्तु नहीं कह सकते। ऐसे दरजी को हमने वढ़वाण में ही देखा है। ऐसे एक नाई को मैं जानता हूँ और ऐसे बुनकर को हम लोगों में से *कौन नहीं जानता। देखने ढूँढ़ने पर हम सब धंधों में केवल यज्ञार्थ अपना धंधा करने और तदर्थ जीवन बिताने वाले आदमी पा सकते हैं। यह अवश्य है कि ऐसे याज्ञिक अपने धंधे से अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं।

---

* यानी आश्रमवासियों में से

पर वे धंधा आजीविका के निमित्त नहीं करते, आजीविका उनके लिए उस धंधे का गौण फल है। मोतीलाल पहले भी दर्जी का धंधा करता था और ज्ञान होने के बाद भी दर्जी बना रहा। भावना बदल जाने से उसका धंधा यज्ञरूप बन गया, उसमें पवित्रता आ गई और पेशे में दूसरे के सुख का विचार दाखिल हो गया। उसी समय उसके जीवन में कला का प्रवेश हो गया। यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है, सच्चा रस उसी में है, क्योंकि उसमें से रस के नित्य नये झरने प्रकट होते हैं। मनुष्य उन्हें पीकर अघाता नहीं है, न वे झरने कभी सूखते हैं। यज्ञ यदि भाररूप जान पड़े तो यज्ञ नहीं है, जो अखरे वह त्याग नहीं है। भोग का अन्त नीच है, त्याग का अन्त अमरता। रस स्वतंत्र वस्तु नहीं है, रस तो हमारी वृत्ति में मौजूद है। एकांकी नाटक के पर्दों में मजा आता है, अन्य को आकाश में नित्य नये-नये प्रकट होने वाले दृश्यों में। रस परिशीलन का विषय है। जो रस रूप से बचपन में सिखाया जाता है, जिसे रस के नाम से जनता में प्रवेश कराया जाता है वह रस माना जाता है। हम ऐसे उदाहरण पा सकते हैं कि जिनमें एक प्रजा को रसमय लगने वाली चीज दूसरी प्रजा को रसहीन लगती है।

यज्ञ करने वाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भाव से सेवा करते हैं अतः लोगों से आवश्यकता-भर को और अनावश्यक भी, लेने का हमें परवाना मिल गया है। जहाँ किसी सेवक के मन में यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई, सरदारी आई। सेवा में अपनी सुविधा के विचार की गुंजाइश ही नहीं होती है। सेवक की सुविधा स्वामी—ईश्वर देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवक को चाहिए कि जो कुछ आ जाय सबको न अपना बैठे। आवश्यकता-भर को ही ले,

बाकी का त्याग करे। अपनी सुविधा की रक्षा न होने पर भी शान्त रहे, रोष न करे, मन में भी खिन्नता न लावे। याज्ञिक का बदला, सेवक की मजदूरी, यज्ञ-सेवा ही है। उसी में उसका सन्तोष है।

सेवा-कार्य में बेगार भी नहीं काटी जाती। उसे अन्त के लिए नहीं छोड़ा जाता। अपना काम तो सँवारे, लेकिन पराया बिना पैसे के करना है, इस खयाल जैसा-तैसा या जब चाहे तब करने में भी हर्ज न समझने वाला यज्ञ का ककहरा भी नहीं जानता। सेवा में तो सोलहों सिंगार भरने पड़ते हैं, अपनी सारी कला उसमें खर्च कर देनी पड़ती है। पहले यह, फिर अपनी सेवा। मतलब यह कि शुद्ध यज्ञ करने वाले के लिए अपना कुछ नहीं है। उसने सब 'कृष्णार्पण' कर दिया है।

(व्यक्तिगत पत्र में से)

यज्ञ (३)

........चर्खे और फ्रेंच के विषय में तुमने जो लिखा है उसमें भी सिद्धांत दृष्टि से त्रुटि पाता हूँ। चर्खे को सर्वार्पण करने पर उस समय को दूसरे काम में नहीं लगाया जा सकता। कोई बात करने आ जाय तो विवेक के खयाल से कर सकते हैं; पर बातों के बजाय कुछ सीखा ही जाय तो उसमें क्या बुराई है, यह न्याय यहाँ नहीं लग सकता। बात में से तो जब चाहे छुट्टी पाई जा सकती है; बात करने वाला भी बहुत देर तक बैठकर बातें नहीं करेगा। पर शिक्षक बन जाने पर तो वह पूरा समय देने को मजबूर हो जाता है। यह सब, तब के लिए है जबकि चर्खे को यज्ञ रूप में चलाते हों। अपने विषय में मैं इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। चर्खा चलाते समय जब अन्य

विचारों में पड़ता हूँ तब गति पर, नम्बर पर, समानता पर उसका का असर पड़ता है। कल्पना करो कि रोमे रोलां या बिथोवन पियानो पर बैठे हैं। उस पर वे ऐसे तन्मय हो जाते हैं कि बात नहीं कर सकते, न मन में अन्य विचार कर सकते हैं। कला और कलाकार पृथक् नहीं होते। यदि यह पियानो के लिए सत्य हो तो फिर चर्खा-यज्ञ के लिए कितना अधिक सत्य होना चाहिए? यह विचार जाने दो कि यह आचरण आज ही संभव नहीं है। अपने विचार-क्षेत्र को बावन तोला पाव रत्ती शुद्ध रख सकें तो तदनुसार आचरण किसी दिन हो जायगा। यह न समझो कि इसमें गुजरे हुओं की आलोचना है। मैं खुद बहुत अधूरा हूँ, मुझे आलोचना करने का हक भी कहाँ है? जितना जानता हूँ उस पर मैं खुद कहाँ पूरी तरह चलता हूँ? चलता होता तो कब का चर्खा सात लाख गाँवों में गूँज जाता। आज भी जो जानता हूँ उसके अनुसार सौ फी सदी चल सकूँ तो मेरे यहाँ बैठे भी चर्खा हवा की तरह फैले। यदि मालवीय जी भागवत पुराण की चर्चा से थके तो मैं चर्खा-संगीत की बातों से थकूँ। चर्खा-पुराण तो कैसे कहूँ। पुराण तो भविष्य की पीढ़ी रचेगी, बशर्ते हम कुछ रचने लायक कर जायंगे। आज तो हम इसका टूटा फूटा संगीत रच रहे हैं। अंत में उसमें कैसा सुर निकलता है यह हमारी तपश्चर्या और हमारे समर्पण पर निर्भर रहेगा।

× × × मुझे आदर्श तो यह लगता है कि यज्ञ के समय मौन हो; उस समय जो विचार हो वह चर्खे, या कहो खादी संबंधी अथवा राम नाम का हो। राम नाम को विस्तृत अर्थ में लेना चाहिए। वास्तव में तो राम नाम जाने-अनजाने हमेशा ही होना चाहिए, जैसे संगीत में तंबूरा। पर हाथ जो काम करते हों उसमें हम एकध्यान न हों तो राम नाम का इच्छा पूर्वक रटन होना

चाहिए। चर्खा चलाते हुए हम बातें करें, कुछ सुनें या और कुछ करें तो यह क्रिया यज्ञ तो नहीं होगी। यदि यह यज्ञ कर्तव्य है तो उतने समय के लिए उसमें लीन हो जाना चाहिए। जिसका सारा जीवन यज्ञरूप है और जो अनासक्त है वह एक समय में एक ही काम करेगा। इतना जानते हुए भी (अल्पाधिक प्रमाण में) मैं ही पहला पापी ठहरता हूँ। क्योंकि कह सकते हैं कि मैंने किसी दिन चुपचाप एकान्त में बैठकर अर्थात् मौन धरकर नहीं काता। मानवार के दिन कातते-कातते डाक सुनता या किसी की कोई बात सुननी होती तो वह सुनता। यह कुटेव यहाँ भी नहीं गई। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि कातने में बहुत नियमित होते हुए भी मैं सुस्त रह गया, और घंटे में मुश्किल से २०० तार तक अब पहुँचा हूँ! और भी अनेक दोष अपने में पाता हूँ, जैसे तार टूटना, माल बनाना न जानना, चमरख का अल्प ज्ञान, रुई की किस्म न पहचानना, समानता वगैरा पूरी तरह से न निकाल सकना, तार की परख न कर सकना इत्यादि। क्या यह सब किसी याज्ञिक को शोभा देता है? फिर खादी की गति धीमी रह गई तो इसमें क्या आश्चर्य है? यदि दरिद्रनारायण है और उसके होने में कोई शक नहीं है, और यदि उसकी प्रसादी खादी है, और यह कहने वाला, जानने वाला जो कुछ कहो वह मैं हूँ फिर भी मेरा अमल कितना ढीला-ढाला है? इसलिए इस विषय में किसी और को दोषी ठहराने का जी ही नहीं चाहता है। मैं तो सिर्फ तुम्हें अपने दोष का, दुःख का, और उसमें से उत्पन्न होने वाले खयाल का और ज्ञान का दर्शन कराना चाहता हूँ। यद्यपि काका के साथ यदा-कदा ऐसी बातें हुई हैं, तथापि इतनी स्पष्टता से तो यही पहले-पहल तुमसे कह रहा हूँ। और यह स्पष्टता

भी आई तुम्हारे उस फ्रेंच को चरखे के साथ जोड़ने के कारण। तुमने जो किया उसमें मैं तुम्हारा तनिक भी दोष नहीं पाता। मैं देख रहा हूँ कि चर्खे का कैसा कच्चा 'मंत्रा' हूँ मैं। मंत्र को तो जाना, पर उसकी पूरी विधि आचार में नहीं उतारी, इसलिए मंत्र अपनी पूरी शक्ति नहीं प्रकट कर सका। चर्खे की भाँति ही इस बात को सारे जीवन पर घटाकर देखो तो कल्पना में तो तुम्हें जीवन की अद्भुत शांति का अनुभव होगा और सफलता का भी। 'योग कर्मसु कौशलम्' का तात्पर्य यह है। इस बात को ध्यान में रखकर जितना हो सके उतना ही करने को हाथ में लें और संतोष मानें। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इससे हम अपने को और समाज को अधिक-से-अधिक आगे बढ़ाने में अपना कर्तव्य करते हैं। जब तक इसका पूरा-पूरा अमल न हो ले तब तक तो यह कोरा पाण्डित्य ही कहा जायगा। दिन-दिन इस दिशा में बढ़ तो रहा हूँ। बाहर निकलने पर क्या होगा यह भगवान जाने। तुम इसमें से बन सके तो इतना तो अमल में ला सकते हो कि यज्ञ के निमित्त जितने तार तय कर लो उतने तो शास्त्रीय रीति से कातो। बाकी तो चाहे जिस दिशा में हिंदुस्तान की संपत्ति बढ़ाने के इरादे से कातते रहो। अभी लिखते जाने की इच्छा होती है। पर अब बस करता हूँ।

१३-११-३०

◆



कर्म-संन्यास योग

इस अध्याय में बतलाया गया है कि कर्मयोग के बिना कर्म-संन्यास हो ही नहीं सकता और वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥१॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण! कर्मों के त्याग की और फिर कर्मों के योग की आप स्तुति करते हैं। मुझे ठीक निश्चयपर्वक कहिये कि इन दोनों में श्रेयस्कर क्या है।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयागो विशिष्यते॥२॥

श्री भगवान् बोले—

कर्मों का त्याग और योग दोनों मोक्ष देनेवाले हैं। उनमें भी कर्म-संन्यास से कर्मयोग बढ़कर है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

जो मनुष्य द्वेष नहीं करता और इच्छा नहीं करता, उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिए। जो सुख-दुःखादि के द्वंद्व से मुक्त है, वह सहज में बंधनों से छूट जाता है।

टिप्पणी—कर्म का त्याग संन्यास का खास लक्षण नहीं है, बल्कि द्वंद्वातीत होना ही है—एक मनुष्य कर्म करता हुआ भी, संन्यासी हो सकता है। दूसरा, कर्म न करते हुए भी, मिथ्याचारी हो सकता है। देखो अध्याय ३; श्लोक ६।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य और योग—ज्ञान और कर्म—ये दो भिन्न हैं, ऐसा अज्ञानी कहते हैं, पंडित नहीं कहते। एक में अच्छी तरह स्थिर रहनेवाला भी दोनों का फल पाता है।

टिप्पणी—ज्ञानयोगी-लोकसंग्रहरूपी कर्मयोग का विशेष फल संकल्प-मात्र से प्राप्त करता है। कर्मयोगी अपनी अनासक्ति के कारण बाह्य कर्म करते हुए भी ज्ञानयोगी की शांति का अधिकारी अनायास बनता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो स्थान सांख्यमार्गी पाता है वही योगी भी पाता है। जो सांख्य और योग को एक रूप देखता है वही सच्चा देखनेवाला है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे महाबाहो ! कर्मयोग के बिना कर्म-त्याग कष्टसाध्य है, परंतु सम भाव वाला मुनि शीघ्र मोक्ष पाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जिसने योग साधा है, जिसने हृदय को विशुद्ध किया है, जिसने मन और इंद्रियों को जीता है और जो भूत-मात्र को अपने जैसा ही समझता है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, साँस लेते, बोलते, छोड़ते, लेते, आँख खोलते, मूँदते केवल इंद्रियाँ ही अपना काम करती हैं, ऐसी भावना रखकर तत्त्वज्ञ योगी यह समझे कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

टिप्पणी—जबतक अभिमान है, तबतक ऐसी अलिप्त स्थिति नहीं आती। अतः विषयासक्त मनुष्य यह कहकर छूट नहीं सकता कि 'विषयों को मैं नहीं भोगता, इंद्रियाँ अपना काम करती हैं।' ऐसा अनर्थ करने वाला न गीता को समझता है और न धर्म को जानता है। यह बात नीचे का श्लोक स्पष्ट करता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसि ॥१०॥

जो मनुष्य कर्मों को ब्रह्मार्पण करके आसक्ति छोड़कर आचरण करता है वह पाप से उसी तरह अलिप्त रहता है जैसे पानी में रहने वाला कमल अलिप्त रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इंद्रियों से भी, योगीजन आसक्ति-रहित होकर आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

समतावान कर्म-फल का त्याग करके परम शांति पाता है। अस्थिरचित्त कामनायुक्त होने के कारण फल में फँसकर बंधन में रहता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

संयमी पुरुष मन से सब कर्मों का त्याग करके नव-द्वार वाले नगर रूपी शरीर में रहते हुए भी, कुछ न करता, न कराता हुआ सुख से रहता है।

टिप्पणी—दो नाक, दो कान, दो आँखें, मल-त्याग के दो स्थान और मुख शरीर के ये नौ मुख्य द्वार हैं। वैसे तो त्वचा के असंख्य छिद्र-मात्र दरवाजे ही हैं। इन दरवाजों का चौकीदार यदि

इनमें आने-जाने वाले अधिकारियों को ही आने-जाने देकर अपना धर्म पालता है तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वह, यह आवा-जाही होते रहने पर भी, उसका हिस्सेदार नहीं, बल्कि केवल साक्षी है, इससे वह न करता है न कराता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

जगत् का प्रभु न कर्तापन को रचता है, न कर्म रचता है, न कर्म और फल का मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है।

टिप्पणी—ईश्वर कर्ता नहीं है। कर्म का नियम अटल और अनिवार्य है। और जो जैसा करता है उसको वैसा भरना ही पड़ता है। इसी में ईश्वर की महान् दया और उसका न्याय विद्यमान है। शुद्ध न्याय में शुद्ध दया है। न्याय की विरोधी दया, दया नहीं है, बल्कि क्रूरता है। पर मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं है। अतः उसके लिए तो दया-क्षमा ही न्याय है। वह स्वयं निरंतर न्याय का पात्र बना हुआ क्षमा का याचक है। वह दूसरे का न्याय क्षमा से ही चुका सकता है। क्षमा के गुण का विकास करने पर ही अन्त में अकर्ता—योगी—समतावान—कर्म में कुशल बनता है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ईश्वर किसी के पाप या पुण्य को नहीं ओढ़ता। अज्ञान द्वारा ज्ञान के ढक जाने से लोग मोह में फँसते हैं।

टिप्पणी—अज्ञान से, 'मैं करता हूँ' इस वृत्ति से मनुष्य कर्म-बंधन बाँधते हुए भी भले-बुरे फल का आरोप ईश्वर पर करता है, यह मोह-जाल है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परन्तु जिनके अज्ञान का आत्म-ज्ञान द्वारा नाश हो गया है, उनका वह सूर्य के समान, प्रकाशमय ज्ञान परम तत्त्व का दर्शन कराता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञान निर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

ज्ञान द्वारा जिनके पाप धुल गये हैं, वे ईश्वर का ध्यान धरने वाले तन्मय हुए, उसमें स्थिर रहने वाले, उसी को सर्वस्व मानने वाले लोग मोक्ष पाते हैं।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्वान और विनयवान ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और कुत्ते को खाने वाले मनुष्य में ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं।

टिप्पणी—तात्पर्य, सबकी उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं। ब्राह्मण और चांडाल के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह है कि ब्राह्मण को साँप काटने पर उसके घाव को जैसे ज्ञानी प्रेम भाव से चूसकर उसका विष दूर करने का प्रयत्न करेगा वैसा ही बर्ताव चांडाल को भी साँप काटने पर करेगा।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनका मन समत्व में स्थिर हो गया है उन्होंने इस देह में रहते ही संसार को जीत लिया है। ब्रह्म निष्कलंक और समभावी है। इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थिर होते हैं।

टिप्पणी—मनुष्य जैसा और जिसका चिन्तन करता है वैसा हो जाता है। इसलिए महत्त्व का चिन्तन करके, दोष-रहित होकर समत्व की मूर्ति रूप निर्दोष ब्रह्म को पाता है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, जो ब्रह्म को जानता है और ब्रह्मपरायण रहता है, वह प्रिय को पाकर सुख नहीं मानता और अप्रिय को पाकर दुःख का अनुभव नहीं करता।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य विषयों में आसक्ति न रखने वाला पुरुष अपने अंतःकरण में जो आनन्द भोगता है वह अक्षय आनन्द पूर्वोक्त ब्रह्मपरायण पुरुष अनुभव करता है।

टिप्पणी—अंतर्मुख होने वाला ही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और वही परम आनन्द पाता है। विषयों से निवृत्त रहकर कर्म करना और ब्रह्मसमाधि में रमण करना ये दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं, वरन एक ही वस्तु को देखने की दो दृष्टियाँ हैं—एक ही सिक्के की दो पीठें हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

विषयजनित भोग अवश्य दुःखों के कारण हैं। हे कौंतेय! वे आदि और अंत वाले हैं। बुद्धिमान् मनुष्य उनमें नहीं फँसता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

देहान्त के पहले जिस मनुष्य ने इस देह से ही काम और क्रोध के वेग को सहन करने की शक्ति प्राप्त की है उस मनुष्य ने समत्व को पाया है, वह सुखी है।

टिप्पणी—मरे हुए शरीर को जैसे, इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख-दुःख नहीं होता, वैसे जो जीवित रहते भी मृत समान, जड़ भरत की भाँति देहातीत रह सकता है वह इस संसार में विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुख को जानता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जिसे आंतरिक आनंद है, जिसके हृदय में शान्ति है, जिसे निश्चित रूप से अन्तर्ज्ञान हुआ है वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्म-निर्वाण पाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीण कल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः ॥२५॥

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनकी शंकाएँ शान्त हो गई हैं, जिन्होंने मन पर अधिकार कर लिया है और जो प्राणी-मात्र के हित में ही लगे रहते हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्म-निर्वाण पाते हैं।

काम क्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जो अपने को पहचानते हैं, जिन्होंने काम-क्रोध को जीता है और जिन्होंने मन को वश में किया है, ऐसे यतियों को सर्वत्र ब्रह्म-निर्वाण ही है।

स्पृशान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छा भयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाह्य विषय-भोगों का बहिष्कार करके, दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थिर करके, नासिका द्वारा आने-जाने वाले प्राण और अपान वायु की गति को एक समान रखकर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में करके तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर जो मुनि मोक्षपरायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है।

टिप्पणी—प्राणवायु अन्दर से बाहर निकलने वाली और बाहर से अन्दर जाने वाली वायु है। इन श्लोकों में प्राणायामादि यौगिक क्रियाओं का समर्थन है। प्राणायामादि तो बाह्य क्रियाएँ हैं और उनका प्रभाव शरीर को स्वस्थ रखने और परमात्मा के रहने योग्य मन्दिर बनाने तक ही परमित है। भोगी का साधारण व्यायामादि से जो काम निकलता है, वही योगी का प्राणायामादि से निकलता है। भोगी के व्यायामादि उसकी इन्द्रियों को उत्तेजित करने में सहायता पहुँचाते हैं। प्राणायामादि योगी के शरीर को निरोगी और कठिन बनाने पर भी, इन्द्रियों को शांत रखने में सहायता करते हैं। आजकल प्राणायामादि की विधि बहुत ही कम लोग जानते हैं और उनमें भी बहुत थोड़े उसका सदुपयोग करते हैं। जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर अधिक नहीं तो प्राथमिक विजय प्राप्त की है, जिसे मोक्ष की

उत्कट अभिलाषा है, जिसने राग-द्वेषादि को जीतकर भय को छोड़ दिया है, उसे प्राणायामादि उपयोगी और सहायक होते हैं। अंतःशौच रहित प्राणायामादि बंधन का एक साधन बनकर मनुष्य को मोह-कूप में अधिक नीचे ले जा सकते हैं, ऐसा बहुतों का अनुभव है। इससे योगीन्द्र पतंजलि ने यम-नियम को प्रथम स्थान देकर उसके साधक के लिए ही मोक्ष-मार्ग में प्राणायामादि को सहायक माना है।

यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोक महेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२६॥

यज्ञ और तप के भोक्ता, स्वर्ग-लोक के महेश्वर और भूतमात्र के हित करने वाले ऐसे मुझको जानकर (उक्त मुनि) शांति प्राप्त करता है।

टिप्पणी—कोई यह न समझे कि इस अध्याय के चौदहवें, पन्द्रहवें तथा ऐसे ही दूसरे श्लोकों का यह श्लोक विरोधी है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् होते हुए कर्त्ता-अकर्त्ता, भोक्ता-अभोक्ता जो कहो सो है और नहीं है। वह अवर्णनीय है। मनुष्य की भाषा से वह अतीत है। इससे उसमें परस्पर विरोधी गुणों और शक्तियों का भी आरोपण करके, मनुष्य उसकी झाँकी की आशा रखता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का कर्म-संन्यास योग नामक पाँचवाँ अध्याय।

गीता-बोध

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन कहता है : "आप ज्ञान को विशेष बतलाते हैं इससे मैं समझता हूँ कि कर्म करने की आवश्यकता नहीं है, संन्यास ही अच्छा है। इन दोनों में अधिक अच्छा क्या है, यह मुझको निश्चयपूर्वक कहिये तभी मुझे कुछ शांति मिल सकती है।"

यह सुनकर भगवान् बोले : "संन्यास अर्थात् निष्काम कर्म ये दोनों अच्छे हैं। पर यदि मुझे चुनाव ही करना है तो मैं कहता हूँ कि योग अर्थात् अनासक्ति पूर्वक कर्म अधिक अच्छा है। जो मनुष्य किसी वस्तु या मनुष्य का न द्वेष करता है, न कोई इच्छा रखता है और सुख-दुःख सर्दी-गर्मी इत्यादि द्वंद्वों से परे रहता है, वह संन्यासी ही है। फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहज में बंधन-मुक्त हो जाता है। अज्ञानी ज्ञान और योग में भेद करता है, ज्ञानी नहीं। दोनों का परिणाम एक ही होता है, अर्थात् दोनों से वही स्थान मिलता है। इसलिए सच्चा जानने वाला वही है जो दोनों को एक ही समझता है। क्योंकि शुद्ध ज्ञानवाले की संकल्प-भर से कार्य-सिद्धि होती है, अर्थात् बाहरी कर्म करने की उसे जरूरत नहीं रहती। जब जनकपुरी जल रही थी तब दूसरों का धर्म था कि जाकर आग बुझायें। जनक के संकल्प से ही उनका आग बुझाने का कर्तव्य पूरा हो रहा था; क्योंकि उनके सेवक उनके आधीन थे। यदि वह घड़ा-भर पानी लेकर दौड़ते तो कुल चौपट कर देते। दूसरे लोग उनकी ओर ताकते रहते और अपना कर्तव्य बिसर जाते। और विशेष भलमनसी दिखाते तो हक्के-बक्के होकर जनक की रक्षा करने दौड़ते पर सब झटपट जनक नहीं बन सकते। जनक की

स्थिति बड़ी दुर्लभ है। करोड़ों में से किसी को अनेक जन्मों की सेवा से वह प्राप्त हो सकती है। यह भी नहीं है कि इसकी प्राप्ति पर कोई विशेष शांति हो। उत्तोत्तर निष्काम कर्म करते मनुष्य का संकल्प-बल बढ़ता जाता है और बाहरी कर्म कम होते जाते हैं। कहा जा सकता है कि वास्तव में देखने पर उसे इसका पता भी नहीं चलता। इसके लिए उसका प्रयत्न भी नहीं होता। वह तो सेवा-कार्य में ही डूबा रहता है। उससे उसकी सेवा-शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसे सेवा से कोई थकान आती नहीं जान पड़ती। इससे अन्त में उसके संकल्प में ही सेवा आ जाती है वैसे ही जैसे बहुत जोर से गति करती हुई वस्तु स्थिर-सी लगती है। ऐसा मनुष्य कुछ करता नहीं है, यह कहना प्रत्यक्ष रूप से अयुक्त है। पर ऐसी स्थिति साधारणतः कल्पना की ही वस्तु है, अनुभव में नहीं आती। इसलिए मैंने कर्मयोग को विशेष कहा है करोड़ों निष्काम कर्म में से ही संन्यास का फल प्राप्त करते हैं। वे संन्यासी होने जायं तो इधर या उधर, कहीं के न रहेंगे। संन्यासी होने गये तो मिथ्याचारी हो जाने की पूरी संभावना है; और कर्म से तो गय ही, मतलब सब खोया। पर जो मनुष्य अनासक्ति-सहित कर्म करता हुआ शुद्धता प्राप्त करता है, जिसने अपने मन को जीता है, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में रखा है, जिसने सब जीवों के साथ अपनी एकता साधी है और सबको अपने समान ही मानता है, वह कर्म करते हुए भी उससे अलग रहता है। अर्थात् बन्धन में नहीं पड़ता। ऐसे मनुष्य के बोलने-चालने आदि की क्रियायें करते हुए भी ऐसा लगता है कि इन क्रियाओं को इन्द्रियाँ अपने धर्मानुसार कर रही हैं। स्वयं वह कुछ नहीं करता। शरीर से आरोग्यवान् मनुष्य की क्रिया स्वाभाविक होती है। उसके जठर आदि अपने-आप काम करते हैं;

उसकी ओर उसे खयाल नहीं दौड़ाना पड़ता, वसे ही जिसका आत्मा आरोग्यवान है उसके लिए कहा जा सकता है कि वह शरीर में रहते हुए भी स्वयं अलिप्त है, कुछ नहीं करता। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि सब कर्म ब्रह्मार्पण करे, ब्रह्म के ही निमित्त करे। तब वह करते हुए भी पाप-पुण्य का पुंज नहीं रचता। पानी में कमल की भाँति कोरा-का-कोरा ही रहेगा। इसलिए जिसने अनासक्ति का अभ्यास कर लिया है वह योगी काया से. मन से, बुद्धि से कार्य करते हुए भी, संग-रहित होकर, अहंकार तजकर बरतता है, जिससे शुद्ध हो जाता है और शांति पाता है। दूसरा अयोगी, जो परिणाम में फसा हुआ है, कैदी की भाँति अपनी कामनाओं में बँधा रहता है। इस नौ दरवाजे वाले देहरूपी नगर में सब कर्मों का मन से त्याग करके स्वयं कुछ न करता कराता हुआ योगी सुखपूर्वक रहता है। संस्कारवान संशुद्ध आत्मा न पाप करता है, न पुण्य। जिसने कर्म में आसक्ति नहीं रखी, अहंभाव नष्ट कर दिया, फल का त्याग किया, वह जड़ की भाँति बरतता है, निमित्त-मात्र बना रहता है; भला उसे पाप-पुण्य कैसे छू सकते हैं ? विपरीत इसके, जो अज्ञान में फँसा है वह हिसाब लगाता है, इतना पुण्य किया, इतना पाप किया और इससे वह नित्य ही नीचे गिरता जाता है और अंत में उसके पल्ले पाप ही रह जाता है। ज्ञान से अपने अज्ञान का नित्य नाश करते जाने वाले के कर्म में नित्य निर्मलता बढ़ती जाती है, संसार की दृष्टि में उसके कर्मों में पूर्णता और पुण्यता होती है। उसके सब कर्म स्वाभाविक जान पड़ते हैं। वह समदर्शी होता है। उसकी नजरों में विद्या और विनयवाला ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, विवेक-हीन—पशु से भी गया बीता--मनुष्य सब समान हैं। मतलब, कि सबकी वह समान भाव से सेवा करेगा—यह नहीं

कि किसी को बड़ा मानकर उसका मान करेगा और दूसरे को तुच्छ समझ कर उसका तिरस्कार करेगा। अनासक्त मनुष्य अपने को सबका देनदार मानेगा, सबको उनका लहना चुकावेगा और पूरा न्याय करेगा। उसने जीते-जी जगत् को जीत लिया है, वह ब्रह्ममय है। अपना प्रिय करने वाले पर वह रीझता नहीं, गाली देने वाले पर खीझता नहीं। आसक्तिवान सुख को बाहर ढूँढ़ता है, अनासक्त निरन्तर भीतर से शांति पाता है, क्योंकि उसने बाहर से जीव को समेट लिया है। इन्द्रियजन्य सारे भोग दुःख के कारण हैं। मनुष्य को काम-क्रोध से उत्पन्न उपद्रव सहन करना चाहिए। अनासक्त योगी सब प्राणियों के हित में ही लगा रहता है। वह शंकाओं से पीड़ित नहीं होता। ऐसा योगी बाहरी जगत् से निराला रहता है, प्राणायामादि के प्रयोगों से अंतर्मुखता का यत्न करता रहता है। और इच्छा, भय, क्रोध आदि से पृथक् रहता है। वह मुझे ही सबका महेश्वर, मित्ररूप, यज्ञादि के भोक्ता की भाँति जानता है और शांति प्राप्त करता है।

◆

◆ ६ ◆

ध्यान योग

इस अध्याय में योग-साधन के—समत्व प्राप्त करने के—कितने ही साधन बतलाये गए हैं।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

श्री भगवान् बोले—

कर्म-फल का आश्रय लिये बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है, वह योगी है, जो अग्नि का और समस्त क्रियाओं का त्याग करके बैठ जाता है वह नहीं।

टिप्पणी—अग्नि से तात्पर्य है साधन-मात्र। जब अग्नि के द्वारा होम होते थे तब अग्नि की आवश्यकता थी। इस युग में यदि चरखे को सेवा का साधन मानें, तो उसका त्याग करने से संन्यासी नहीं हुआ जा सकता।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पांडव ! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान । जिसने मन के संकल्पों को त्यागा नहीं वह योगी नहीं हो सकता।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योग साधने वाले को कर्म साधन है, जिसने उसे साधा है उसे शान्ति साधन है ।

टिप्पणी—जिसकी आत्म-शुद्धि हो गई है, जिसने समत्व सिद्ध कर लिया है, उसे आत्म-दर्शन सहज है । इसका यह अर्थ नहीं है कि योगरूढ़ को लोक-संग्रह के लिए भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती । लोक-संग्रह के बिना तो वह जी ही नहीं सकता । अतः सेवा-कर्म करना भी उसके लिए सहज हो जाता है। वह दिखावे के लिए कुछ नहीं करता । अध्याय ३–४, अध्याय ५–२ से मिलाइए ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जब मनुष्य इन्द्रियों के विषय में या कर्म में आसक्त नहीं होता और सब संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

आत्मा से मनुष्य आत्मा का उद्धार करे; उसकी अधोगति न करे । आत्मा ही आत्मा का बन्धु है; और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

उसी का आत्मा बंधु है जिसने अपने बल से मन को जीता है; जिसने आत्मा को जीता नहीं वह अपने ही साथ शत्रु का-सा बर्ताव करता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जिसने अपना मन जीता है और जो सम्पूर्ण रूप से शान्त हो गया है उसका आत्मा सरदी-गरमी, सुख-दुःख और मान-अपमान में समान रहता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

जो ज्ञान और अनुभव से तृप्त हो गया है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियों को जीत लिया है और जिसे मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, ऐसा ईश्वर-परायण मनुष्य योगी कहलाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

हितेच्छु, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती, दोनों का भला चाहनेवाला द्वेषी, बंधु और साधु तथा पापी इन सब में जो समान भाव रखता है वह श्रेष्ठ है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

चित्त स्थिर करके, वासना और संग्रह का त्याग करके, अकेला एकांत में रहकर योगी निरंतर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़े।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

पवित्र स्थान में, न बहुत नीचा न बहुत ऊँचा ऐसा कुश, मृग चर्म और वस्त्र एक-पर-एक बिछाकर स्थिर आसन अपने लिए करके, वहाँ एकाग्र मन से बैठकर चित्त और इंद्रियों को वश में करके आत्म-शुद्धि के लिए योग साधे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

धड़, गर्दन और सिर एक सीध में अचल रखकर, स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ अपने नासिकाग्र पर निगाह टिकाकर पूर्ण शांति से, निर्भय होकर, ब्रह्मचय में दृढ़ रहकर, मन को मारकर मुझमें परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे।

टिप्पणी—नासिकाग्र से मतलब है भृकुटी के बीच का भाग। देखो अध्याय ५-२७। ब्रह्मचारी व्रत का अर्थ केवल वीर्य-संग्रह ही नहीं, बल्कि ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शांति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार जिसका मन नियम में है, ऐसा योगी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ता है और मेरी प्राप्ति में मिलने वाली मोक्षरूपी परम शान्ति प्राप्त करता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन ! यह समत्वरूप योग न तो प्राप्त होता है ठूँसकर खाने वाले को, न होता है उपवासी को, वैसे ही वह बहुत सोने वाले या बहुत जागने वाले को प्राप्त नहीं होता ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कर्मों में, सोने-जागने में परिमित रहता है, उसका योग दुःख-भंजन हो जाता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

भली-भाँति नियमबद्ध मन जब आत्मा में स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामनाओं से निस्पृह हो बैठता है तब वह योगी कहलाता है ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का प्रयत्न करने वाले स्थिरचित्त योगी की स्थिति वायुरहित स्थान में अचल रहने वाले दीपक की-सी कही गई है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

योग के सेवन से अंकुश में आया हुआ मन जहाँ शांति पाता है, आत्मा से ही आत्मा को पहचानकर आत्मा में जहाँ मनुष्य सन्तोष पाता है और इंद्रियों से परे और बुद्धि से ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख का जहाँ अनुभव होता है, जहाँ रहकर मनुष्य मूल वस्तु से चलायमान नहीं होता; और जिसे पाने पर दूसरे किसी लाभ को वह उससे अधिक नहीं मानता, और जिसमें स्थिर हुआ महा दुःख से भी डगमगाता नहीं, उस दुःख के प्रसंग से रहित स्थिति का नाम योग की स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे बिना दृढ़ता पूर्वक साधने योग्य है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सारी कामनाओं का पूर्णरूप से त्याग करके मन से ही इन्द्रिय-समूह को सब ओर से भली-भाँति नियम में लाकर अचल बुद्धि से योगी धीरे-धीरे शान्त होता जाय और मन को आत्मा में पिरोकर, दूसरी किसी बात का विचार न करे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

जहाँ-जहाँ चंचल और अस्थिर मन भागे वहाँ-वहाँ से (योगी) उसे नियम में लाकर अपने वश में लावे।

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

जिसका मन भली-भाँति शान्त हुआ है, जिसके विकार शांत हो गये हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

आत्मा के साथ निरंतर अनुसंधान करते हुए पाप-रहित हुआ यह योगी सरलता से ब्रह्म प्राप्तिरूप अनंत सुख का अनुभव करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्वत्र समभाव रखने वाला योगी अपने को सब भूतों में और सब भूतों को अपने में देखता है।

योो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता, और मैं उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

मुझ में लीन हुआ जो योगी भूत-मात्र में रमनेवाले मुझको भजता है, वह चाहे जिस तरह बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है।

टिप्पणी—'आप' जबतक है तब तक तो परमात्मा 'पर' है। 'आप' मिट जाने पर—शून्य होने पर ही एक परमात्मा को सर्वत्र देखता है। अध्याय १३-२३ की टिप्पणी देखिये।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य अपने जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख, दोनों को समान समझता है वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन! यह (समत्वरूपी) योग जो आपने कहा उसकी स्थिरता मैं चंचलता के कारण नहीं देख पाता।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

क्योंकि हे कृष्ण ! मन चंचल ही है, मनुष्य को मथ डालता है, और बड़ा बलवान है। जैसे वायु को दबाना बहुत कठिन है वैसे मन का वश करना भी मैं कठिन मानता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्री भगवान् बोले--

हे महाबाहो ! सच है कि मन चंचल होने के कारण वश करना कठिन है। पर हे कौंतेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह वश किया जा सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

मेरा मत है कि जिसका मन अपने वश में नहीं है, उसके लिए योग साधना बहुत कठिन है; पर जिसका मन अपने वश में है और जो यत्नवान है वह उपाय द्वारा साध सकता है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! जो श्रद्धावान तो है पर यत्न में मंद होने के कारण योग-भ्रष्ट हो जाता है, वह सफलता न पाने पर कौन-सी गति पाता है ?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो! योग से भ्रष्ट हुआ, ब्रह्ममार्ग में भटका हुआ वह छिन्न-भिन्न बादलों की भाँति उभयभ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण! यह मेरा संशय दूर करने में आप समर्थ हैं। आपके सिवा दूसरा कोई इस संशय को दूर करने वाला नहीं मिल सकता।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान् बोले—

हे पार्थ! ऐसे मनुष्यों का नाश न तो इस लोक में होता है न परलोक में। हे तात! कल्याण-मार्ग में जानेवाले की कभी दुर्गति होती ही नहीं।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

पुण्यशाली लोगों को मिलनेवाले स्थान को पाकर और वहाँ बहुत समय तक रहकर योग-भ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधनवाले के घर जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।४२।।

या ज्ञानवान योगी के ही कुल में वह जन्म लेता है । संसार में ऐसा जन्म अवश्य बहुत दुर्लभ है ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।४३।।

हे कुरुनंदन ! वहाँ उसे पूर्व जन्म के बुद्धि-संस्कार मिलते हैं, और वहाँ से वह मोक्ष के लिए आगे बढ़ता है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।४४।।

उसी पूर्वाभ्यास के कारण वह अवश्य योग की ओर खिंचता है । योग का जिज्ञासु तक सकाम वैदिक कर्म करने वाले की स्थिति को पार कर जाता है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।४५।।

लगन से प्रयत्न करता हुआ योगी पाप से छूटकर अनेक जन्मों से विशुद्ध होता हुआ परमगति को पाता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ।।४६।।

तपस्वी से योगी अधिक है, ज्ञानी से भी वह अधिक माना जाता है, वैसे ही कर्मकांडी से वह अधिक है, इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन।

टिप्पणी—यहाँ तपस्वी की तपस्या फलेच्छायुक्त है ज्ञानी से मतलब अनुभव-ज्ञानी से नहीं है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सारे योगियों में भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूँ जो मुझ में मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यां-
तर्गत योग-शस्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का
'ध्यान योग' नामक छठा अध्याय।

गीता-बोध

छठा अध्याय

१६-१२-३०

मंगलप्रभात

श्री भगवान् कहते हैं: कर्म-फल त्याग कर कर्तव्य-कर्म करने वाला मनुष्य संन्यासी कहलाता है। जो क्रिया-मात्र का त्याग कर बैठता है वह असली बात तो है मन के घोड़े दौड़ाना छोड़ने की। जो योग अर्थात् महत्त्व को साधना चाहता है उसका कर्म बिना गुजर ही नहीं। जिसे समत्व प्राप्त हो गया है वह शांत दिखाई देता है। तात्पर्य, उसके विचार-मात्र में कर्म का बल आ गया रहता है। जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त न हो और मन की सारी तरंगों को छोड़ दे तब कहना चाहिए कि उसने योग साधा है, वह योगारूढ़ हुआ है।

आत्मा का उद्धार आत्मा से ही होता है। तब कह सकते हैं कि आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु बनता है। जिसने मन को जीता है उसका आत्मा मित्र है, जिसने नहीं जीता है उसका आत्मा शत्रु है। मन को जीतने वाले की पहचान है कि उसके लिए सरदी-गरमी, सुख-दुःख, मान-अपमान सब एक समान होते हैं। योगी उसका नाम है जिसे ज्ञान है, अनुभव है; जो अविचल है। जिसने इन्द्रियों पर विजय पाई है और जिसके लिए सोना, मिट्टी या पत्थर समान है। वह शत्रु, मित्र, साधु, असाधु इत्यादि के प्रति समभाव रखता है। ऐसी स्थिति को पहुँचने के लिए मन स्थिर करना, वासनाएं त्यागना और एकांत में बैठकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। केवल आसन आदि ही बस नहीं हैं। समत्व-

प्राप्ति के इच्छुकों को ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों का भली प्रकार पालन करना चाहिए। यों आसनबद्ध हुए यम-नियमों का पालन करने वाले मनुष्य को अपना मन परमात्मा में स्थिर करने से परम शांति प्राप्ति होती है।

यह समत्व ठूँस-ठूँस कर खाने वाला तो नहीं पा सकता, पर कोरे उपवास से भी नहीं मिलता; न बहुत सोने वाले को मिलता है; वैसे ही बहुत जागने से भी हाथ नहीं आता। समत्व-प्राप्ति के इच्छुकों को तो सब में—खाने में, पीने में, सोने-जागने में भी मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए। एक दिन खूब खाया और दूसरे दिन उपवास, एक दिन खूब सोये और दूसरे दिन जागरण, एक दिन खूब काम करना दूसरे दिन अलसाना, यह योग की निशानी नहीं है। योगी तो सदैव स्थिरचित्त होता है और कामना-मात्र का वह अनायास त्याग किये रहता है। ऐसे योगी की स्थिति निर्वात स्थान में दीपक की भाँति स्थिर रहती है। उसे जग के खेल अथवा अपने मन में उठने वाले विचारों की लहरें डावांडोल नहीं कर सकतीं। धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता-पूर्वक प्रयत्न करने से यह योग सध सकता है। मन चंचल है इससे इधर-उधर दौड़ता है। उसे धीरे-धीरे स्थिर करना चाहिए। उसके स्थिर होने से ही शांति मिलती है। या मन की स्थिरता के लिए निरंतर आत्म-चिंतन आवश्यक है। ऐसा मनुष्य सब जीवों को अपने में और अपने को सबमें देखता है। क्योंकि वह मुझे सबमें सर्वत्र, देखता है। वह 'स्वयं' नहीं रह गया है; इसलिए चाहे जो करता हुआ भी मुझी में पिरोया हुआ रहता है। उसके हाथ से कभी कुछ अकरणीय नहीं हो सकता।

अर्जुन को यह योग कठिन लगा। वह बोला : "यह आत्मा-

स्थिरता कैसे प्राप्त हो ? मन तो बन्दर के समान है। ऐसा मन कब और कैसे वश में आता है ?"

भगवान् ने उत्तर दिया : तेरा कहना सच है। पर राग-द्वेष को जीतने और प्रयत्न करने से कठिन को आसान किया जा सकता है 'निस्संदेह' मन को जीते बिना योग का साधन नहीं बन सकता।

तब फिर अर्जुन पूछता है : "मान लीजिये कि मनुष्य में श्रद्धा है; पर उसका प्रयत्न मंद होने से वह सफल नहीं होता। ऐसे मनुष्य की क्या गति होती है ? वह बिखरे बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ?"

भगवान् बोले ! "ऐसे श्रद्धालु का नाश तो होता ही नहीं। कल्याण-मार्गी की अवगति नहीं होती। ऐसा मनुष्य मरने पर कर्मानुसार पुण्य लोक में बसने के बाद पृथ्वी पर लौट आता है। और पवित्र घर में जन्म लेता है। ऐसा जन्म लोकों में दुर्लभ है। ऐसे घर में उसके पूर्व संस्कार उदय होते हैं। अब प्रयत्नों में तेजी आती है, और अन्त में उसे सिद्धि मिलती है। यों प्रयत्न करते-करते कोई जल्दी और अनेक जन्मों के बाद अपनी श्रद्धा और प्रयत्न के बल के अनुसार समत्व को पाता है। तप, ज्ञान, कर्म-काण्ड सम्बन्धी कर्म—इन सबसे समत्व विशेष है, क्योंकि तपादि का अन्तिम परिणाम भी समता ही होना चाहिए। इसलिए तू समत्व-लाभ कर और योगी हो। अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर और श्रद्धापूर्वक मेरी ही आराधना करने वालों को श्रेष्ठ समझ।"

इस अध्याय में प्राणायाम-आसन आदि की स्तुति है। पर स्मरण रखें कि भगवान् ने उसी के साथ ब्रह्मचर्य की अर्थात् ब्रह्म-

प्राप्ति के यम-नियमादि पालन की आवश्यकता बतलाई है। यह समझ लेना आवश्यक है कि आसनादि अकेली क्रिया से कभी समत्व नहीं प्राप्त हो सकता। यदि उस हेतु से वे क्रियायें हों तो आसन-प्राणायामादि मन को स्थिर करने में, एकाग्र करने में थोड़ी-सी मदद करते हैं, अन्यथा उन्हें अन्य शारीरिक व्यायामों की श्रेणी में समझ कर उतनी ही- शरीर सुधार भर ही-कीमत माननी चाहिए। शारीरिक व्यायाम रूप में प्राणायामादि का बहुत उपयोग है। व्यायामों में व्यायाम सात्विक है: शारीरिक दृष्टि से इसका साधन उचित है। पर उसे सिद्धियां पाने और चमत्कार देखने को ये क्रियायें करने में मैंने लाभ के बजाय हानि होते देखी है। यह अध्याय तीसरे, चौथे और पांचवें अध्याय का उपसंहार रूप समझना चाहिए। यह प्रयत्नशील को आश्वासन देता है। हमें समता प्राप्त करने का प्रयत्न हारकर कभी नहीं छोड़ना चाहिए।



◆ ७ ◆

ज्ञान-विज्ञान योग

इस अध्याय में यह समझाना आरंभ किया गया है कि ईश्वर-तत्त्व और ईश्वर-भक्ति क्या है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—

हे पार्थ! मेरे में मन पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर योग साधता हुआ तू निश्चयपूर्वक और संपूर्णरूप से मुझे किस तरह पहचान सकता है सो सुन।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

अनुभवयुक्त यह ज्ञान मैं तुझे पूर्ण रूप से कहूँगा। इसे जानने के बाद इस लोक में अधिक कुछ जानने को नहीं रह जाता।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में से कोई ही सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न करनेवाले सिद्धों में से भी कोई ही मुझे वास्तविक रूप से पहचानता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंभाव यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है।

टिप्पणी—इन आठ तत्त्वों वाला स्वरूप क्षेत्र या क्षर पुरुष है। देखो अध्याय १३, श्लोक ५; और अध्याय १५, श्लोक १६।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

यह अपरा प्रकृति हुई। इससे भी ऊँची परा प्रकृति है, जो जीवरूप है। हे महाबाहो! यह जगत् उसके आधार पर निभ रहा है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

भूत-मात्र की उत्पत्ति का कारण तू इन दोनों को जान। समूचे जगत की उत्पत्ति और लय का कारण मैं हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे धनंजय! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नहीं है। जैसे धागे में मनके पिरोये हुए रहते हैं वैसे यह सब मुझमें पिरोया हुआ है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

हे कौंतेय! जल में रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्र में तेज मैं हूँ; सब वेदों में ओंकार मैं हूँ; आकाश में शब्द मैं हूँ और पुरुषों का पराक्रम मैं हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पृथ्वी में सुगंध मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, प्राणी-मात्र का जीवन मैं हूँ; तपस्वी का तप मैं हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ! समस्त जीवों का सनातन बीज मुझे जान; बुद्धिमान की बुद्धि मैं हूँ, तेजस्वी का तेज मैं हूँ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

बलवान का काम और राग-रहित बल मैं हूँ, और हे भरतर्षभ! प्राणियों में धर्म का अविरोधी काम मैं हूँ।

येचैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो-जो सात्त्विक, राजसी और तामसी भाव हैं, उन्हें मुझसे उत्पन्न हुआ जान। परन्तु मैं उनमें हूँ ऐसा नहीं है, वे मुझमें हैं।

टिप्पणी—इन भावों पर परमात्मा निर्भर नहीं है, बल्कि भाव उस पर निर्भर हैं। उसके आधार पर हैं, रहते हैं और उसके वश में हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन त्रिगुणी भावों से सारा संसार मोहित हो रहा है और इसलिए उनसे उच्च और भिन्न ऐसे मुझको—अविनाशी को—वह नहीं पहचानता।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

इस मेरी तीन गुणोंवाली दैवी माया का तरना कठिन है। पर जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस माया को तर जाते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भवमाश्रिताः ॥१५॥

दुराचारी, मूढ़, अधम मनुष्य मेरी शरण नहीं आते। वे आसुरी भाववाले होते हैं और माया द्वारा उनका ज्ञान हरा हुआ होता है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन ! चार प्रकार के सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं—दुःखी, जिज्ञासु, कुछ प्राप्ति की इच्छा वाले और ज्ञानी ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उनमें जो नित्य समभावी एक को ही भजने वाला है, वह ज्ञानी श्रेष्ठ है । मैं ज्ञानी को अत्यंत प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे प्रिय है ।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ये सभी भक्त अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है ऐसा मेरा मत है । क्योंकि मुझे पाने के सिवा दूसरी अधिक उत्तम गति है ही नहीं यह जानता हुआ वह योगी मेरा ही आश्रय लेता है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझे पाता है । सब वासुदेवमय है, यों जानने वाला महात्मा बहुत दुर्लभ है ।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अनेक कामनाओं से जिन लोगों का ज्ञान हरा गया है, वे अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न विधि का आश्रय लेकर दूसरे देवताओं की शरण जाते हैं ।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो-जो मनुष्य जिस-जिस स्वरूप की भक्ति श्रद्धा पूर्वक करना चाहता है, उस-उस स्वरूप में उसकी श्रद्धा को मैं दृढ़ करता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

श्रद्धापूर्वक उस-उस स्वरूप की वह आराधना करता है और उसके द्वारा मेरी निर्मित की हुई और अपनी इच्छित कामनाएं पूरी करता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

उन अल्प बुद्धि वालों को जो फल मिलता है वह नाशवान होता है। देवताओं को भजने वाले देवताओं को पाते हैं, मुझे भजने वाले मुझे पाते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

मेरे परम, अविनाशी और अनुपम स्वरूप को न जानने वाले बुद्धिहीन लोग इन्द्रियों से अतीत मुझको इन्द्रियगम्य मानते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अपनी योग-माया से ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूँ। यह मूढ जगत मुझ अजन्मा और अव्यय को भली-भाँति नहीं पहचानता।

टिप्पणी—इस दृश्य जगत् को उत्पन्न करने का सामर्थ्य होते हुए भी अलिप्त होने के कारण परमात्मा के अदृश्य रहने का जो भाव है वह उसकी योग-माया है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन! जो हो चुके हैं, जो हैं, और जो होने वाले हैं, सभी भूतों को मै जानता हूँ, पर मुझे कोई नहीं जानता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

हे भारत! हे परंतप! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादि द्वंद्व के मोह से प्राणी-मात्र इस जगत् में मोहग्रस्त रहते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥२८॥

पर जिन सदाचारी लोगों के पापों का अन्त हो चुका है और जो द्वंद्व के मोह से मुक्त हो गए हैं वे अटल व्रत वाले मुझे भजते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो मेरा आश्रय लेकर जरा और मरण से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं वे पूर्ण ब्रह्म को, अध्यात्म को और अखिल कर्म को जानते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञयुक्त मुझे जिन्होंने पहचाना है, वे समत्व को पाये हुए मुझे मृत्यु के समय भी पहचानते हैं।

टिप्पणी—अधिभूतादि का अर्थ आठवें अध्याय में आता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि इस संसार में ईश्वर के सिवा, और कुछ भी नहीं है और समस्त कर्मों का कर्ता-भोक्ता वह है ऐसा समझ कर जो मृत्यु के समय शांत रहकर ईश्वर में ही तन्मय रहता है तथा कोई वासना उस समय जिसे नहीं होती, उसने ईश्वर को पहचाना है और उसने मोक्ष पाया है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्र श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'ज्ञान-विज्ञान योग' नामक सातवाँ अध्याय

गीता-बोध

सातवाँ अध्याय

२३-१२-३०

मंगलप्रभात

भगवान् बोले: "हे पार्थ ! अब मैं तुम्हें बतलाऊँगा कि मुझमें चित्त पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर कर्मयोग का आचरण करता हुआ मनुष्य निश्चयपूर्वक मुझे संपूर्ण रीति से कैसे पहचान सकता है। इस अनुभवयुक्त ज्ञान के बाद फिर और कुछ जानने को बाकी नहीं रहेगा। हजारों में कोई-कोई ही उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालों में कोई ही सफल होता है।

पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु तथा मन, बुद्धि और अहंकारवाली आठ प्रकार की एक मेरी प्रकृति है। इसे अपरा प्रकृति और दूसरी को परा प्रकृति कहते हैं, जो जीवरूप है। इन दो प्रकृतियों से अर्थात् देह और जीव के संबंध से सारा जगत् है। जैसे माला के आधार पर उसके मणिये रहते हैं वैसे जगत् मेरे आधार पर विद्यमान है। तात्पर्य, जल में रस मैं हूँ, सूर्य-चंद्र का तेज मैं हूँ, वेदों का ओंकार मैं हूँ, आकाश का शब्द मैं हूँ, पुरुषों का पराक्रम मैं हूँ, मिट्टी में सुगंध मैं हूँ, अग्नि का तेज मैं हूँ, प्राणी-मात्र का जीवन मैं हूँ, तपस्वी का तप मैं हूँ, बुद्धिमान की बुद्धि मैं हूँ, बलवान का शुद्ध-बल मैं हूँ, जीव-मात्र में विद्यमान धर्म की अविरोधी कामना मैं हूँ। संक्षेप में सत्व, रजस् और तमस् से उत्पन्न होनेवाले सब भावों को मुझसे उत्पन्न हुआ जान; उनकी स्थिति मेरे आधार पर ही है। मेरी त्रिगुणी माया के कारण इन तीन भावों या गुणों में रचे-पचे लोग मुझ अविनाशी को पह-

चान नहीं सकते। उसे तर जाना कठिन है। पर मेरी शरण लेने वाले इस माया को अर्थात् तीन गुणों को लाँघ सकते हैं।

पर ऐसे मूढ़ लोग मेरी शरण कैसे ले सकते हैं कि जिनके आचार-विचार का कोई ठिकाना नहीं है। वे तो माया में पड़े अंधकार में ही चक्कर काटा करते हैं और ज्ञान से वंचित रहते हैं। पर श्रेष्ठ आचारवाले मुझे भजते हैं। इनमें कोई अपना दुःख दूर करने को मुझे भजता है, कोई मुझे पहचानने की इच्छा से भजता है, और कोई कर्त्तव्य समझ कर ज्ञानपूर्वक मुझे भजता है। मुझे भजने का अर्थ है मेरे जगत् की सेवा करना। उसमें कोई दुःख के मारे, कोई कुछ लोभ-प्राप्ति की इच्छा से, कोई इस खयाल से कि चलो देखा जायगा क्या होता है, और कोई समझ-बूझकर इसलिए कि उसके बिना उनसे रहा ही नहीं जाता, सेवा-परायण रहते हैं। यह अंतिम मेरे ज्ञानी भक्त हैं, और कहूँगा कि मुझे यह सबसे अधिक पहचानते हैं और मेरे निकट-से-निकट हैं। अनेक जन्मों के बाद ही मनुष्य ऐसा ज्ञान पाता है और उसे पाने पर इस जगत् में मुझे वासुदेव के सिवा और कुछ नहीं देखता। पर कामना वाले मनुष्य तो भिन्न-भिन्न देवताओं को भजते हैं और जिसकी जैसी भक्ति है उसको वैसा फल देने वाला तो मैं ही हूँ। उन ओछी समझ वालों को मिलने वाला फल भी वैसा ही ओछा होता है, और उतने से ही उनको संतोष भी रहता है। वे अपनी कम-अक्ली से मानते हैं कि मुझे वे इन्द्रियों द्वारा पहचान सकते हैं। वे नहीं समझते कि मेरा अविनाशी और अनुपम स्वरूप इन्द्रियों से परे है, तथा हाथ, कान, नाक, आँख इत्यादि द्वारा पहचाना नहीं जा सकता। इसे मेरी योग-माया समझें कि इस प्रकार सारी चीजों का विधाता होने पर भी अज्ञानी लोग मुझे पहचान नहीं सकते। राग-द्वेष

के द्वारा सुख-दुःख होते ही रहते हैं और उसके कारण जगत् मोह-ग्रस्त रहता है। पर जो उसमें से छूट गये हैं और जिनके आचार-विचार निर्मल हो गये हैं वे तो अपने व्रत में निश्चल रहकर निरन्तर मुझे ही भजते हैं। वे पूर्ण ब्रह्मरूप से सब प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले जीवरूप में रहे हुए मुझे और मेरे कर्म को मानते हैं। यों जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञरूप से पहचानते हैं और इससे जिन्होंने समत्व प्राप्त किया है, वे मृत्यु के अनन्तर जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि इतना जान लेने पर उनका मन अन्यत्र नहीं भटकता और सारे जगत् को ईश्वरमय देखते हुए वे ईश्वर में ही समा जाते हैं।"



• ◆ ८ ◆

अक्षर-ब्रह्म योग

इस अध्याय में ईश्वर-तत्त्वको विशेष रूप से समझाया गया है।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे पुरुषोत्तम ! इस ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं ? अधिदैव क्या कहलाता है ?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभि ॥२॥

हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ क्या है और किस प्रकार है ? और संयमी आपको मृत्यु के समय किस तरह पहचान सकता है ?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

श्री भगवान् बोले—

जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है; प्राणी-मात्र में अपनी सत्ता से जो रहता है वह अध्यात्म है। और प्राणी-मात्र को उत्पन्न करने वाला सृष्टि-व्यापार कर्म कहलाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधि दैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अधिभूत मेरा नाशवान स्वरूप है। अधिदैवत उसमें रहने वाला मेरा जीव स्वरूप है। और हे मनुष्यश्रेष्ठ! अधियज्ञ इस शरीर में स्थित किन्तु यज्ञ द्वारा शुद्ध हुआ जीव स्वरूप है।

टिप्पणी—तात्पर्य, अव्यक्त ब्रह्म से लेकर नाशवान दृश्य पदार्थ-मात्र परमात्मा ही है, और सब उसीं की कृति है। तब फिर मनुष्य स्वयं कर्तापन का अभिमान रखने के बदले परमात्मा का दास बनकर सब कुछ उसे समर्पण क्यों न करे ?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अंत काल में मुझे ही स्मरण करते-करते जो देह त्याग करता है वह मेरे स्वरूप को पाता है इसमें कोई संदेह नहीं है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥६॥

अथवा तो हे कौन्तेय! नित्य जिस-जिस स्वरूप का ध्यान मनुष्य धरता है, उस-उस स्वरूप को अन्तकाल में भी स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और इससे वह उस-उस स्वरूप को पाता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

इसलिए सदा मुझे स्मरण कर और जूझता रह; इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि रखने से अवश्य मुझे पायेगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ! चित्त को अभ्यास से स्थिर करके और कहीं न भागने देकर जो एकाग्र होता है वह दिव्य परम पुरुष को पाता है।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो मनुष्य मृत्यु-काल में अचल मन से, भक्ति से सराबोर होकर और योग-बल से भृकुटी के बीच में अच्छी तरह प्राण को स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन, नियंता, सूक्ष्मतम, सबके पालनहार, अचिंत्य, सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञान-रूपी अन्धकार से परस्वरूप का ठीक स्मरण करता है वह दिव्य परम-पुरुष को पाता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

जिसे वेद जानने वाले अक्षर नाम से वर्णन करते हैं, जिसमें वीतराग मुनि प्रवेश करते हैं, और जिसकी प्राप्ति की इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस पद का संक्षिप्त वर्णन मैं तुमसे करूँगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

इंद्रियों के सब द्वारों को रोककर, मन को हृदय में ठहराकर, मस्तक में प्राण को धारण करके, समाधिस्थ होकर ॐ ऐसे एकाक्षरी ब्रह्म का उच्चारण और मेरा चिंतन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागता है वह परम गति को पाता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पार्थ ! चित्त को अन्यत्र कहीं रखे बिना जो नित्य और निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहज में पाता है ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मुझे पाकर परम गति को पहुँचे हुए महात्मा दुःख के घर अशाश्वत पुनर्जन्म को नहीं पाते ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे कौन्तेय ! ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक फिर-फिर आने वाले हैं । परन्तु मुझे पाने के बाद मनुष्य को फिर जन्म नहीं लेना होता ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रियुगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

हजार युग तक का ब्रह्मा का एक दिन और हजार युग तक की ब्रह्मा की एक रात जो जानते हैं वे रात-दिन के जानने वाले हैं ।

टिप्पणी—तात्पर्य, हमारे चौबीस घंटे के रात-दिन काल-चक्र के अन्दर एक क्षण से भी सूक्ष्म हैं । उनकी कोई गिनती नहीं है । इसलिए उतने समय में मिलने वाले भोग आकाश-पुष्पवत हैं, यों समझ कर हमें उनकी ओर से उदासीन रहना चाहिए ।

और उतना ही समय हमारे पास है उसे भगवद्भक्ति में, सेवा में व्यतीत कर सार्थक करना चाहिए और यदि तत्काल आत्म-दर्शन न हो तो धीरज रखना चाहिए।

अव्यक्ताद्व्यक्तव्यः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

(ब्रह्मा का) दिन आरम्भ होने पर सब अव्यक्त में से व्यक्त होते हैं और रात पड़ने पर उनका प्रलय होता है अर्थात् अव्यक्त में लय हो जाते हैं।

टिप्पणी—यह जानकर भी मनुष्य को समझना चाहिए कि उसके हाथ में बहुत थोड़ी सत्ता है। उत्पत्ति और नाश का जोड़ा साथ-साथ चलता ही रहता है।

भूतग्रामः न एवायं भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ! यह प्राणियों का समुदाय इस तरह पैदा हो-होकर रात पड़ने पर बरबस लय होता है, और दिन उगने पर उत्पन्न होता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

इस अव्यक्त से परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त प्राणियों का नाश होते हुए भी वह सनातन अव्यक्त भाव नष्ट नहीं होता।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

जो अव्यक्त, अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसी को परम गति कहते हैं। जिसे पाने के बाद लोगों का पुनर्जन्म नहीं होता वह मेरा परमधाम है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ ! इस उत्तम पुरुष के दर्शन अनन्य भक्ति से होते हैं। इसमें भूत-मात्र स्थित हैं। और यह सब उससे व्याप्त हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

जिस समय मरकर योगी मोक्ष पाते हैं और जिस समय मरकर उन्हें पुनर्जन्म प्राप्त होता है वह काल हे भरतर्षभ ! मैं तुझसे कहूँगा।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

उत्तरायण के छः महीनों में, शुक्ल पक्ष में, दिन को जिस समय अग्नि की ज्वाला उठ रही हो उस समय जिसकी मृत्यु होती है वह ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म को पाता है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

दक्षिणायन के छः महीनों में, कृष्ण पक्ष में, रात्रि में,जिस समय धुआँ फैला हुआ हो उस समय मरने वाले चन्द्र-लोक को पाकर पुनर्जन्म पाते हैं।

टिप्पणी—ऊपर के दो श्लोक मैं पूरी तौर से नहीं समझता। उनके शब्दार्थ का गीता की शिक्षा के साथ मेल नहीं बैठता। उस शिक्षा के अनुसार तो जो भक्तिमान है, जो सेवा-मार्ग को सेता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, वह चाहे जभी मरे, उसे मोक्ष ही है। उससे इन श्लोकों का शब्दार्थ विरोधी है। उसका भावार्थ यह अवश्य निकल सकता है कि जो यज्ञ करता है अर्थात् परोपकार में ही जो जीवन बिताता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, जो ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानी है, मृत्यु के समय भी यदि उसकी ऐसी स्थिति हो तो वह मोक्ष पाता है। इससे विपरीत जो यज्ञ नहीं करता, जिसे ज्ञान नहीं है, जो भक्ति नहीं जानता वह चन्द्रलोक अर्थात् क्षणिक लोक को पाकर फिर संसार-चक्र में लौटता है। चन्द्र के निजी ज्योति नहीं है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

जगत् में ज्ञान और अज्ञान के ये दो परम्परा से चलते आये मार्ग माने गये हैं। एक अर्थात् ज्ञान-मार्ग से मनुष्य मोक्ष पाता है; और दूसरे अर्थात् अज्ञान-मार्ग से उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों का जानने वाला कोई भी योगी मोह में नहीं पड़ता। इसलिए हे अर्जुन ! सर्वदा तू योगयुक्त रहना।

टिप्पणी—दोनों मार्गों का जानने वाला और सम भाव रखने वाला अंधकार का—अज्ञान का मार्ग नहीं पकड़ता, इसी का नाम है मोह में न पड़ना।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

यह वस्तु जान लेने के बाद वेद में, यज्ञ में, तप में और दान में जो पुण्य-फल बतलाया है, उस सबको पार करके योगी उत्तम आदिस्थान पाता है।

टिप्पणी—अर्थात् जिसने ज्ञान, भक्ति और सेवा-कर्म से समभाव प्राप्त किया है, उसे न केवल सब पुण्यों का फल ही मिल जाता है बल्कि उसे परम मोक्ष पद मिलता है।

ॐ तत्सत

इति श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म विद्या-न्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'अक्षर-ब्रह्म योग' नामक आठवाँ अध्याय।

गी ता-बो ध

आठवाँ अध्याय

२६-१२-३०
सोमप्रभात

अर्जुन पूछता है : "आपने पूर्ण ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत अधिदैव, अधियज्ञ का नाम लिया, पर इन सबों का अर्थ मैंने समझा नहीं। फिर आप कहते हैं कि आपको अधिभूत रूप से जानकर समत्व को प्राप्त हुए लोग मृत्यु के समय पहचानते हैं। यह सब मुझे समझाइये।"

भगवान् ने उत्तर दिया : "जो सर्वोत्तम नाश-रहित स्वरूप है वह पूर्ण ब्रह्म है और जो प्राणी-मात्र में कर्ता भोक्ता रूप से देह धारण किये हुए हैं वह अध्यात्म है। प्राणी-मात्र की उत्पत्ति जिस क्रिया से होती है उसका नाम कर्म है। अतः यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रिया से उत्पत्ति-मात्र होती है वह कर्म है। मेरा नाशवान देह स्वरूप अधिभूत है और यज्ञ द्वारा शुद्ध हुआ अध्यात्मस्वरूप अधियज्ञ। यों देह रूप में, मूर्च्छित जीवरूप में, शुद्ध जीव रूप में, और पूर्ण ब्रह्म रूप में सर्वत्र मैं ही हूँ। और ऐसा जो मैं हूँ उसका मृत्यु के समय में जो ध्यान धरता है, अपने को विसार देता है किसी प्रकार की चिंता नहीं करता; इच्छा नहीं करता. वह निस्सन्देह मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है। मनुष्य जिस स्वरूप का नित्य ध्यान करता है, अंत काल में भी उसी का ध्यान रहे तो उस स्वरूप को वह पाता है। और इसीलिए तू नित्य मेरा ही स्मरण रख। मुझमें ही मन-बुद्धि पिरो रख। तब मुझे ही पायगा। तू इस प्रकार चित्त के स्थिर न हो पाने की बात कहेगा। मेरा कहना है कि नित्य के अभ्यास से, नित्य के प्रयत्न से इस प्रकार

मनुष्य एक-ध्यान अवश्य हो जाता है। क्योंकि मैं तुमसे कह चुका हूँ कि मूल की दृष्टि से विचारने पर तो देह धारी भी मेरा ही स्वरूप है। इसलिए मनुष्य को पहले से ही तैयारी करनी चाहिए कि मृत्यु के समय मन चलायमान न हो, भक्ति में लीन रहे, प्राण को स्थिर रखे, और सर्वज्ञ पुरातन, नियंता, सूक्ष्म होते हुए भी सबके पालन की शक्ति रखने वाले, चिन्तन द्वारा तत्काल न पहचाने जा सकने वाले, सूर्य के समान अंधकार-अज्ञान मिटाने वाले परमात्मा का ही स्मरण करे।

इस परम पद को वेद अक्षरब्रह्म नाम से पहचानते हैं, राग-द्वेषादि त्यागी मुनि उसे पाते हैं और उस पद की प्राप्ति के सब इच्छुक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, तात्पर्य; काया, वाचा, और तन को अंकुश में रखते हैं, विषय-मात्रा का तीनों प्रकार से त्याग करते हैं। इन्द्रियों को समेट लेकर ॐ का उच्चारण करते, मेरा ही चिंतन करते-करते देह छोड़ने वाले स्त्री-पुरुष परम-पद पाते हैं। ऐसों का चित्त कहीं अन्यत्र नहीं भटकता। और यों मुझे पाकर यह दुःख-निवास रूपी जन्म फिर नहीं लेना पड़ता। इस जन्म-मरण के चक्कर से छूटने का उपाय मेरी प्राप्ति ही है।

अपने सौ वर्ष के जीवन-काल से मनुष्य-काल का अनुमान लगाता है और उतने समय में हजारों जाल फैलाता है। पर काल तो अनन्त है। हजारों युगों को ब्रह्मा के एक दिन बराबर समझ। इसमें मनुष्य के एक दिन की या सौ वर्ष की क्या बिसात है? इस तनिक से समय को लेकर इतनी व्यर्थ की दौड़-धूप क्यों? जिस अनन्त-काल के चक्र में मनुष्य का जीवन क्षण-मात्र के समान है उसमें तो ईश्वर का ध्यान ही शोभा देता है, क्षणिक भोगों के पीछे दौड़ना नहीं। ब्रह्मा के रात-दिन में उत्पत्ति और नाश चलता ही रहता है और चलता रहेगा।

उत्पत्ति-लय करने वाला ब्रह्मा भी मेरा ही भाव है। वह अव्यक्त है, इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। इससे भी परे मेरा अन्य अव्यक्त स्वरूप है जिसका कुछ वर्णन मैंने तुमसे किया है। उसे पाने वाला जन्म-मरण से छूट जाता है। क्योंकि इस स्वरूप के लिए रात-दिन वाला द्वंद्व नहीं है, यह केवल शांत अचल स्वरूप है। इसके दर्शन अनन्य भक्ति से ही होते हैं। इसी के आधार पर सारा जगत् है और वह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

कहते हैं कि उत्तरायण के शुक्ल पक्ष के दिनों में मरने वाला उपर्युक्त प्रकार से स्मरण करता हुआ मुझे पाता है और दक्षिणायन में, कृष्णपक्ष की रात्रि में मृत्यु पाने वाले के पुनर्जन्म के चक्कर बाकी रह जाते हैं। इसका अर्थ यों किया जा सकता है कि उत्तरायण और शुक्ल पक्ष यह निष्काम सेवा-मार्ग है और दक्षिणायन और कृष्ण पक्ष स्वार्थ मार्ग है। सेवा-मार्ग अर्थात् ज्ञान-मार्ग, स्वार्थमार्ग अर्थात् अज्ञानमार्ग। ज्ञानमार्ग से चलने वाले को मोक्ष है और अज्ञान मार्ग से चलने वाले को बंधन। इन दोनों मार्गों को जान लेने पर कौन मोह में रहकर अज्ञान मार्ग को पसंद करेगा? इतना जानने पर मनुष्य-मात्र को सब पुण्य-फल छोड़कर, अनासक्त रहकर, कर्त्तव्य में परायण रहकर मैंने जो कहा है वह उत्तम स्थान पाने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

•

◆ ९ ◆

राजविद्या राजगुह्य योग

इसमें भक्ति की महिमा गाई है।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्री भगवान् बोले—

तू द्वेष-रहित है, इससे तुझे मैं गुह्य-से-गुह्य अनुभव-युक्त ज्ञान दूँगा, जिसे जानकर तू अकल्याण से बचेगा।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

विद्याओं में यह राजा है; गूढ़ वस्तुओं में भी राजा है। यह विद्या पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव में आने योग्य, धार्मिक, आचार में लाने में सहज और अविनाशी है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे परंतप! इस धर्म में जिन्हें श्रद्धा नहीं है ऐसे लोग मुझे न पाकर मृत्युमय संसार-मार्ग में बारंबार ठोकर खाते हैं।



मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मेरे अव्यक्त स्वरूप से यह समूचा जगत् भरा हुआ है। मुझमें—मेरे आधार पर—सब प्राणी हैं, मैं उनके आधार पर नहीं हूँ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

तथापि प्राणी मुझमें नहीं हैं ऐसा भी कहा जा सकता है। यह मेरा योग-बल तू देख। मैं जीवों का पालन करने वाला हूँ, फिर भी मैं उनमें नहीं हूँ। परन्तु मैं उनका उत्पत्ति-कारण हूँ।

टिप्पणी—मुझमें सब जीव हैं और नहीं हैं। उनमें मैं हूँ और नहीं हूँ। यह ईश्वर का योग-बल, उसकी माया, उसका चमत्कार है। ईश्वर का वर्णन भगवान् को भी मनुष्य की भाषा में ही करना ठहरा, इसलिए अनेक प्रकार के भाषा-प्रयोग करके उसे सन्तोष देते हैं। ईश्वरमय सब है, इसलिए सब उसमें है। वह अलिप्त है, प्राकृत कर्ता नहीं है, इसलिए उसमें जीव नहीं हैं यह कहा जा सकता है। परन्तु जो उसके भक्त हैं उनमें वह अवश्य है। जो नास्तिक हैं उनमें उसकी दृष्टि से तो वह नहीं है। और इसे उसके चमत्कार के सिवा और क्या कहा जाय ?

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे सर्वत्र विचरती हुई महान् वायु नित्य आकाश में विद्यमान है ही, वैसे सब प्राणी मुझमें हैं ऐसा जान।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कौंतेय ! सारे प्राणी कल्प के अन्त में मेरी प्रकृति में लय पाते हैं और कल्प का आरंभ होने पर मैं उन्हें फिर रचता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

अपनी माया के आधार से मैं इस प्रकृति के प्रभाव के आधीन रहने वाले प्राणियों के सारे समुदाय को बारंबार उत्पन्न करता हूँ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे धनंजय ! ये कर्म मुझे बन्धन नहीं करते, क्योंकि मैं उनमें उदासीन के समान और आसक्ति-रहित बर्तता हूँ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मेरे अधिकार के नीचे प्रकृति स्थावर और जंगम जगत् को उत्पन्न करती है और इस हेतु, हे कौंतेय ! जगत् घटमाल (रहट) की भाँति घूमा करता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

प्राणी-मात्र का महेश्वर रूप जो मैं हूँ उसके भाव को न जानकर मूर्ख लोग मुझ मनुष्य-तनधारी की अवज्ञा करते हैं।

टिप्पणी—क्योंकि जो लोग ईश्वर की सत्ता नहीं मानते, वे शरीरस्थित अंतर्यामी को नहीं पहचानते और उसके अस्तित्व न मानते हुए जड़वादी बने रहते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

व्यर्थ आशा वाले, व्यर्थ काम करने वाले और व्यर्थ ज्ञान वाले मूढ़ लोग मोह में डाल रखने वाली राक्षसी या आसुरी प्रकृति का आश्रय लेते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

इससे विपरीत, हे पार्थ! महात्मा लोग दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर प्राणी-मात्र के आदिकारण ऐसे अविनाशी मुझको जानकर एकनिष्ठा से भजते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

दृढ़ निश्चय वाले, प्रयत्न करने वाले वे निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं, मुझे भक्ति से नमस्कार करते हैं और नित्य ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

और दूसरे लोग अद्वैतरूप से या द्वैतरूप से अथवा बहुरूप से सब कहीं रहने वाले मुझको ज्ञानद्वारा पूजते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

यज्ञ का संकल्प मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, यज्ञद्वारा पितरों का आधार मैं हूँ, यज्ञ की वनस्पति मैं हूँ मन्त्र मैं हूँ, आहुति मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवन-द्रव्य मैं हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस जगत् का पिता मैं, माता मैं, धारण करने वाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य मैं, पवित्र ओंकार मैं, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गति मैं, पोषक मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, निवास मैं, आश्रय मैं, हितैषी मैं, उत्पत्ति मैं, नाश मैं स्थिति मैं, भंडार मैं और अव्यय बीज भी मैं ही हूँ ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

धूप मैं देता हूँ, वर्षा को मैं ही रोक रखता और बरसने देता हूँ । अमरता मैं हूँ, मृत्यु मैं हूँ और हे अर्जुन ! सत् तथा असत् भी मैं ही हूँ ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तीन वेद के कर्म करने वाले सोमरस पीकर निष्पाप बने हुए य ज्ञद्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग माँगते हैं। वे पवित्र देवलोक पाकर स्वर्ग में दिव्य भोग भोगते हैं।

टिप्पणी—सभी वैदिक क्रियाएँ फल-प्राप्ति के लिए की जाती थीं और उनमें से कई क्रियाओं में सोम-पान होता था, उसका यहाँ उल्लेख है। वे क्रियाएँ क्या थीं, सोमरस क्या था, यह आज वास्तव में कोई नहीं कह सकता।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

इस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर वे पुण्य का क्षय हो जाने पर मृत्युलोक में वापस आते हैं। इस प्रकार तीन वेद के कर्म करने वाले, फल की इच्छा रखने वाले जन्म-मरण के चक्कर काटा करते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिंतन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमें ही रत रहनेवालों के योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूं।

टिप्पणी—इस प्रकार योगी को पहचानने के तीन सुन्दर लक्षण हैं—समत्व, कर्म में कौशल, अनन्य भक्ति। ये तीनों एक दूसरे में ओत-प्रोत होने चाहिएं। भक्ति के बिना समत्व नहीं मिलता, समत्व के बिना भक्ति नहीं मिलती, और कर्म-कौशल के बिना भक्ति तथा समत्व का आभास-मात्र होने का भय है। योग अर्थात् अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तु को सँभाल कर रखना।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

और हे कौंतेय! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवता को भजते हैं, वे भी भले ही विधिरहित भजें, मुझे ही भजते हैं।

टिप्पणी—विधिरहित अर्थात् अज्ञानवश, मुझ एक निरंजन निराकार को न जानकर।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

जो मैं ही सब यज्ञों का भोगने वाला स्वामी हूँ, उसे वे सच्चे स्वरूप में नहीं पहचानते, इसलिए वे गिरते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओं का पूजन करने वाले देवलोकों को पाते हैं, पितरों का पूजन करने वाले पितृलोक को पाते हैं, भूत-प्रेतादि को पूजने वाले उन लोकों को पाते हैं, और मुझे भजने वाले मुझे पाते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है वह प्रयत्नशील मनुष्य द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मैं सेवन करता हूँ ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वर-प्रीत्यर्थ जो कुछ सेवा-भाव से दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणी में रहने वाले अन्तर्यामी रूप से भगवान् ही ग्रहण करते हैं ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

इसलिए हे कौंतेय ! जो करे, जो खाय, जो हवन में होमे; जो तू दान में दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके करना ।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म-बन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

इससे तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्म-बन्धन से छूट जायगा और फल-त्यागरूपी समत्व को पाकर, जन्म-मरण से मुक्त होकर मुझे पायगा ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

सब प्राणियों में मैं समभाव से रहता हूँ । मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है । जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

भारी दुराचारी भी यदि अनन्यभाव से मुझे भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिए। क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है।

टिप्पणी—क्योंकि अनन्य भक्ति दुराचार को शान्त कर देती है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

वह तुरंत धर्मात्मा हो जाता है और निरंतर शान्ति पाता है। हे कौंतेय ! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

फिर हे पार्थ ! जो पाप-योनि हों वे भी, और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं वे परमगति पाते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

तब फिर पुण्यवान ब्राह्मण और राजर्षि जो मेरे भक्त हैं, तो कहना ही क्या है ? इसलिए इस अनित्य और सुख-रहित लोक में जन्मकर तू मुझे भज।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमें परायण होकर आत्मा को मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पायगा।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतगत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'राजविद्याराजगुह्य योग' नामक नवाँ अध्याय।

गीता-बोध

नवाँ अध्याय

९-१-३१

सोमप्रभात

गत अध्याय के अंतिम श्लोक में योगी का उच्च स्थान बतला देने पर भगवान् के लिए अब भक्ति की महिमा बतलाना ही बाकी रह जाता है। क्योंकि गीता का योगी शुष्क ज्ञानी नहीं है, न ब्रह्मचारी भक्त ही। गीता का योगी ज्ञान और भक्तिमय अनासक्त कर्म करने वाला है। अतः भगवान् कहते हैं : तुझमें द्वेष नहीं है, इससे तुझे मैं गुह्यज्ञान कहता हूँ कि जिसे पाकर तेरा कल्याण होगा यह ज्ञान सर्वोपरि है, पवित्र है और आचार में अनायास लाया जा सकने योग्य है। जिसे इसमें श्रद्धा नहीं होती वह मुझे नहीं पा सकता। मेरे स्वरूप को मनुष्य-प्राणी इन्द्रियों द्वारा नहीं पहचान सकते तथापि इस जगत् में वह व्यापक है जगत् उसके आधार पर स्थित है। वह जगत् के आधार पर नहीं है। फिर यों भी कहा जाता है कि ये प्राणी मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ, यद्यपि मैं उनकी उत्पत्ति का कारण हूँ और उनका पोषणकर्ता हूँ। वे मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ, क्योंकि वे अज्ञान में रहने के कारण मुझे जानते नहीं हैं उनमें भक्ति नहीं है। तू समझ कि यह मेरा चमत्कार है।

पर मैं प्राणियों में नहीं हूँ ऐसा जान पड़ता है, तथापि वायु की भाँति मैं सर्वत्र फैला हुआ हूँ और सारे जीव युग का अन्त होने पर लय हो जाते हैं और आरम्भ होने पर फिर जन्मते हैं। इन कर्मों का कर्ता होने पर भी वह मुझे बंधनकारक नहीं है क्योंकि उनमें मुझे आसक्ति नहीं है उनमें मैं उदासीन हूँ। वे कर्म होते

रहते हैं क्योंकि यह मेरी प्रकृति है, मेरा स्वभाव है। पर ऐसा जो मैं हूँ उसे लोग पहचानते नहीं हैं, इसलिए वे नास्तिक बने रहते हैं। मेरे अस्तित्व से ही इनकार करते हैं। ऐसे लोग झूठ हवाई महल बनाते रहते हैं। उनके कर्म भी व्यर्थ होते हैं और वे अज्ञान से भरपूर होने के कारण आसुरी वृत्ति वाले होते हैं। पर दैवी वृत्ति वाले, अविनाशी और सिरजनहार जानकर, मुझे भजते हैं। वे दृढ़-निश्चयी होते हैं, नित्य-प्रयत्नवान रहते हैं, मेरा भजन-कीर्तन करते और मेरा ध्यान धरते हैं, इसके सिवा कितने ही मुझे एक ही मानने वाले हैं। कितने ही मुझे बहुरूप मानते हैं। मेरे अनन्त गुण होने के कारण बहुरूप से मानने वाले भिन्न गुणों को भिन्न रूप से देखते हैं। पर इन सबको तू भक्त जान।

यज्ञ का संकल्प मैं, यज्ञ मैं, पितरों का आधार मैं, यज्ञ की वनस्पति मैं, मंत्र मैं, आहुति मैं, हविष्य मैं, अग्नि मैं, और जगत का पिता मैं, माता मैं, जगत् को धारण करने वाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य भी मैं, ओंकार मन्त्र मैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं,गति मैं, पोषण मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, आश्रय मैं, कल्याण चाहने वाला भी मैं, उत्पत्ति और नाश भी मैं, सर्दी-गर्मी मैं, उत्पत्ति और नाश मैं, सत और असत् भी मैं हूँ।

वेद में वर्णित क्रियाएं सभी, फल-प्राप्ति के लिए होती हैं। अत; उन्हें करने वाले स्वर्ग चाहे पावें पर जन्म-मरण के चक्कर से नहीं छूटते । पर जो एक ही भाव से मेरा चिंतन करते रहते हैं और मुझे ही भजते हैं, उनका सारा भार मैं उठाता हूँ। उनकी आवश्यकताएँ मैं पूरी करता हूँ और उनकी मैं ही सँभाल करता हूँ। अन्य कुछ, दूसरे देवताओं में श्रद्धा रखकर उन्हें भजते हैं, इसमें अज्ञान है तथापि अन्त में तो वे भी मुझे ही भजने वाले माने जायंगे। क्योंकि यज्ञ-मात्र का

मैं ही स्वामी हूँ। पर मेरी इस व्यापकता को न जानकर वे अन्तिम स्थिति को पहुँच नहीं सकते। देवताओं को पूजने वाले देवलोक, पितरों को पूजने वाले पितृलोक, भूतप्रेतादि को पूजने वाले उनका लोक और ज्ञानपूर्वक मुझे भजने वाले मुझे पाते हैं। जो मुझे एक पत्ता तक भक्तिपूर्वक अर्पण करते हैं उन प्रयत्नशील मनुष्यों की भक्ति को मैं स्वीकार करता हूँ। इसलिए जो कुछ तू करे वह सब मुझे अर्पण करके ही करना। तब शुभ-अशुभ फल का उत्तरदायित्व तेरा नहीं रहेगा। जब तूने फल-मात्र का त्याग कर दिया तब तेरे लिए जन्म-मरण के चक्कर नहीं रह गये। मुझे सब प्राणी समान हैं। एक प्रिय और दूसरा अप्रिय हो, यह नहीं है। पर जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वह तो मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। इसमें पक्षपात नहीं है। बल्कि यह उन्होंने अपनी भक्ति का फल पाया है। इस भक्ति का चमत्कार ऐसा है कि जो एक भाव से मुझे भजते हैं वह दुराचारी हों तो भी साधु बन जाते हैं, सूर्य के सामने जैसे अंधेरा नहीं ठहरता वैसे मेरे पास आते ही मनुष्य के दुराचारों का नाश हो जाता है। इसलिए तू निश्चय समझ ले कि मेरी भक्ति करने वाले कभी नाश को प्राप्त ही नहीं होते। वे तो धर्मात्मा होते हैं और शांति भोगते हैं। इस भक्ति की महिमा ऐसी है कि जो पाप-योनि में जन्मे माने जाते हैं, वे और निरक्षर स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र, जो मेरा आश्रय लेते हैं वे मुझे पाते हैं, तब पुण्य-कर्म करने वाले ब्राह्मण-क्षत्रियों का तो कहना ही क्या रहा? जो भक्ति करता है उसे उसका फल मिलता है। इसलिए तू जब असार संसार में आगया है तो मुझे भजकर उससे तर जा। अपना मन मुझमें पिरो दे, मेरा ही भक्त रह, अपने यज्ञ भी मेरे लिए कर, अपने नमस्कार भी मुझे ही पहुँचा, और इस भाँति मुझमें तू परायण होगा और अपनी

आत्मा को मुझमें होमकर शून्यवत् हो जायगा तो तू मुझे पावेगा।

मंगलप्रभात

टिप्पणी—इसमें से हम पाते हैं कि भक्ति का तात्पर्य है ईश्वर में आसक्ति। अभ्यास का भी यह सरल-से-सरल उपाय है। इससे अध्याय के आरंभ में प्रतिज्ञा की है कि भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। हृदय में जो बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे वह विकट है। इसी से उसे 'सिर का सौदा' भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखनेवाले जलते हैं। अंदर पड़े हुए महासुख मानते हैं। कवि लिखता है कि उबलते तेल की कड़ाही में सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए काँपते थे। कथा है कि नंद अंत्यज की जब अग्नि-परीक्षा हुई तब वह अग्नि में नाचता था। इन सबकी सचाई की ऐतिहासिकता की खोज की जरूरत नहीं है। जो किसी भी चीज में लीन होता है उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपनेपन को भूल जाता है। पर प्रभु को छोड़कर दूसरे में लीन कौन होगा ?

'शक्कर गन्ने का स्वाद छोड़ कडुवे नीम को मत घोल रे'
'सूरज-चांद का तेज तज, जुगनू से मन मत जोड़ रे।'

अतः नवाँ अध्याय बतलाता है कि प्रभु में आसक्ति अर्थात् भक्ति बिना फल में अनासक्ति असंभव है। अंतिम श्लोक सारे अध्याय का निचोड़ है। और हमारी भाषा में उसका अर्थ है "तू मुझमें समा जा।"



• १० •

विभूति योग

सातवें, आठवें और नवें अध्याय में भक्ति आदि का निरूपण करने के बाद भगवान् अपनी अनंत विभूतियों का कुछ दिग्दर्शन भक्त के लिए कराते हैं।

श्री भगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्री भगवान् बोले—

हे महाबाहो! फिर मेरा परम वचन सुन। यह मैं तुझ प्रियजन को तेरे हित के लिए कहूँगा।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

देव और महर्षि मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते, क्योंकि मैं ही देवों का और महर्षियों का सब प्रकार से आदि कारण हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

मृत्युलोक में रहता हुआ जो ज्ञानी लोकों के महेश्वर मुझको अजन्मा और अनादि रूप में जानता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इंद्रिय-निग्रह, शांति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय और अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश, इस प्रकार प्राणियों के भिन्न-भिन्न भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सप्तर्षि, उनके पहले सनादिक चार, और (चौदह) मनु मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए और उनमें से ये लोक उत्पन्न हुए हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

इस मेरी विभूति और शक्ति को जो यथार्थ जानता है वह अविचल समता को पाता है, इसमें संशय नहीं है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

मुझमें चित्त लगाने वाले, मुझे प्राणार्पण करने वाले एक दूसरे को बोध कराते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, संतोष में और आनन्द में रहते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

इस प्रकार मुझमें तन्मय रहने वालों को और मुझे प्रेम से भजने वालों को मैं ज्ञान देता हूँ और उससे वे मुझे पाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उन पर दया करके उनके हृदय में स्थित मैं ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपक स उनके अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करता हूँ।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन बोले—

हे भगवान् ! आप परम ब्रह्म हैं, परम धाम हैं, परम पवित्र हैं। समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको अविनाशी, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा, ईश्वररूप मानते हैं और आप स्वयं भी वैसा ही कहते हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! आप जो कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवान् ! आपके स्वरूप को न देव जानते हैं न दानव।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे पुरुषोत्तम ! हे जीवों के पिता ! हे जीवेश्वर ! हे देवों के देव ! हे जगत के स्वामी ! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपने को जानते हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

जिन विभूतियोंके द्वारा इन लोकोंमें आप व्याप रहे हैं, अपनी वह दिव्य विभूतियाँ, पूरी-पूरी मुझसे आपको कहनी चाहिएँ।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगिन् ! आपका नित्य चिन्तन करते-करते आपको मैं कैसे पहचान सकता हूँ ? हे भगवन् ! किस किस रूपमें आपका चिंतन करना चाहिए ?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन ! अपनी शक्ति और अपनी विभूति का वर्णन मुझसे फिर विस्तार पूर्वक कीजिये । आपकी अमृतमय वाणी सुनते-सुनते तृप्ति होती ही नहीं ।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्री भगवान् बोले—

हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छा, मैं अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियाँ तुझे कहूँगा । उनके विस्तार का अंत तो है ही नहीं ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश ! मैं सब प्राणियों के हृदय में विद्यमान आत्मा हूँ । मैं ही भूत-मात्र का आदि, मध्य और अंत हूँ ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यों में विष्णु मैं हूँ, ज्योतियों में जगमगाता सूर्य मैं हूँ, वायुओं में मरीचि मैं हूँ, नक्षत्रों में चंद्र मैं हूँ ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदों में सामवेद मैं हूँ, देवों में इंद्र मैं हूँ, इंद्रियों में मन मैं हूँ और प्राणियों का चेतन मैं हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रों में शंकर मैं हूँ, यक्ष और राक्षसों में कुबेर मैं हूँ, वसुओं में अग्नि मैं हूँ, पर्वतों में मेरु मैं हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ ! पुरोहितों में प्रधान बृहस्पति मुझे समझ। सेनापतियों में कार्तिक स्वामी मैं हूँ और सरोवरों में सागर मैं हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षियों में भृगु मैं हूँ, वाणी में एकाक्षरी ॐ मैं हूँ, यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ और स्थावरों में हिमालय मैं हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

सब वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) मैं हूँ, देवर्षियों में नारद मैं हूँ, गंधर्वों में चित्ररथ मैं हूँ और सिद्धों में कपिलमुनि मैं हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अश्वों में अमृत में से उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा मुझे जान। हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मैं हूँ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

हथियारों में वज्र मैं हूँ, गायों में कामधेनु मैं हूँ, प्रजा की उत्पत्ति का कारण कामदेव मैं हूँ, सर्पों में वासुकि मैं हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागों में शेषनाग मैं हूँ, जलचरों में वरुण मैं हूँ, पितरों में अर्यमा मैं हूँ और दंड देने वालों में यम मैं हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ, गिननेवालों में काल मैं हूँ, पशुओं में सिंह मैं हूँ, पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पावन करने वालों में पवन मैं हूँ, शस्त्रधारियों में परशुराम मैं हूँ, मछलियों में मगर-मच्छ मैं हूँ, नदियों में गंगा मैं हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, अंत और मध्य मैं हूँ, विद्याओं में अध्यात्म विद्या मैं हूँ और विवाद करने वालों का वाद मैं हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षरों में अकार मैं हूँ, समासों में द्वंद्व मैं हूँ, अविनाशीकाल मैं हूँ और सर्वव्यापी धारण करने वाला भी मैं हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सबको हरनेवाली मृत्यु मैं हूँ, भविष्य में उत्पन्न होनेवाले का उत्पत्ति कारण मैं हूँ, और नारी जाति के नामों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा मैं हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

सामों में बृहत् (बड़ा) साम मैं हूँ, छंदों में गायत्री छंद मैं हूँ। महीनों में मार्गशीर्ष मैं हूँ, ऋतुओं में वसंत मैं हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छल करने वाले का द्यूत मैं हूँ, प्रतापी का प्रभाव मैं हूँ, जय मैं हूँ, निश्चय मैं हूँ, सात्त्विक भाववाले का सत्त्व मैं हूँ।

टिप्पणी—छल करने वालों का द्यूत मैं हूँ इस वचन से भड़कने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ सारासार का निर्णय नहीं है, किंतु जो कुछ होता है वह बिना ईश्वर की मर्जी के नहीं होता यह बतलाना है और सब उसके अधीन है, यह जाननेवाला छली भी अपना अभिमान छोड़कर छल त्यागे।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिकुल में वासुदेव मैं हूँ, पांडवों में धनंजय (अर्जुन) मैं हूँ, मुनियों में व्यास मैं हूँ और कवियों में उशना मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

शासक का दंड मैं हूँ, जय चाहनेवालों की नीति मैं हूँ, गुह्य बातों में मौन मैं हूँ और ज्ञानवान का ज्ञान मैं हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन ! समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण मैं हूँ। जो कुछ स्थावर या जंगम है, वह मेरे बिना नहीं है।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अंत ही नहीं है। विभूतियों का विस्तार मैंने केवल दृष्टांत रूप से ही बतलाया है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

जो कुछ भी विभूतिमान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है, उस-उसको मेरे तेज के अंश से ही हुआ समझ।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा हे अर्जुन! यह विस्तारपूर्वक जानकर तुझे क्या करना है। अपने एक अंश-मात्र से इस समूचे जगत् को धारण करके मैं विद्यमान हूँ।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यां-
तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का
'विभूति योग' नामक दसवाँ अध्याय।

गीता-बोध

दसवाँ अध्याय

१२-१-३१

सोम प्रभात

भगवान् कहते हैं: दोबारा भक्तों के हित के लिए कहता हूँ सो सुन। देव और महर्षिगण तक मेरी उत्पत्ति नहीं जानते हैं, क्योंकि मेरे लिए उत्पन्नता ही नहीं है। मैं उनकी और अन्य सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ। जो ज्ञानी मुझे अजन्मा और अनादि रूप में पहचानते हैं वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि परमेश्वर को इस रूप में जानने और अपने को उसकी प्रजा अथवा उसके अंश की भाँति पहचानने पर मनुष्य की पाप-वृत्ति नहीं रह सकती। पाप-वृत्ति का मूल ही निज संबंधी अज्ञान है।

जैसे प्राणी मुझसे पैदा हुए हैं, वैसे उनके भिन्न-भिन्न भाव भी, जैसे क्षमा-सत्य, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय आदि भी मुझसे उत्पन्न हुए हैं। यह सब मेरी विभूति हैं। जो यह जान लेते हैं उनमें सहज ही समता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे अहंता को छोड़ देते हैं। उनका चित्त मुझमें ही पिरोया हुआ रहता है, वे मुझे अपना सब-कुछ अर्पण करते हैं, परस्पर मेरे विषय में ही वार्तालाप करते हैं, मेरा कीर्तन करते हैं और संतोष तथा आनंद से रहते हैं। इस प्रकार जो मुझे प्रेमपूर्वक भजते हैं और मुझमें ही जिनका मन रहता है उन्हें मैं ज्ञान देता हूँ और उसके द्वारा वे मुझे पाते हैं।

तब अर्जुन ने स्तुति की: आप ही परमब्रह्म हैं, परमधाम हैं, पवित्र हैं, ऋषि आदि आपको आदिदेव, अजन्मा, ईश्वर रूप से भजते हैं ऐसा आप ही कहते हैं। हे स्वामी, हे पिता! आपका

स्वरूप कोई जानता नहीं है, आप ही अपने को जानते हैं। अब मुझसे अपनी विभूतियाँ और साथ ही यह कहिये कि आपका चिंतन करते हुए मैं आपको कैसे पहचान सकता हूँ।

भगवान् ने जवाब दिया—मेरी विभूतियाँ अनंत हैं, उनमें से थोड़ी खास-खास तुमसे कह देता हूँ। सब प्राणियों के हृदय में रहा हुआ मैं हूँ। मैं ही उनकी उत्पत्ति, उनका मध्य और उनका अंत हूँ। आदित्यों में विष्णु मैं, उज्ज्वल वस्तुओं में प्रकाश देनेवाला सूर्य मैं, वायुओं में मरीचि मैं, नक्षत्रों में चंद्र मैं, वेदों में सामवेद मैं, देवों में इंद्र मैं, इंद्रियों में मन मैं, प्राणियों में चेतन-शक्ति मैं, रुद्रों में शंकर मैं, यक्ष-राक्षसों में कुबेर मैं, दैत्यों में प्रह्लाद मैं, पशुओं में सिंह मैं, पक्षियों में गरुड़ मै और छल करने वालों मे द्यूत (जुआ) भी मझे ही जान। इस जगत् में जो कुछ होता है वह मेरी मरजी बिना हो ही नहीं सकता। अच्छा और बुरा भी मैं ही होने देता हूँ तभी होता है। यह जानकर मनुष्य को अभिमान छोड़ना चाहिए और बुरे से बचना चाहिए, क्योंकि भले-बुरे का फल देने वाला भी मैं हूँ। तू इतना जान कि यह सारा जगत् मेरी विभूति-के एक अंश-मात्र से स्थित है।



◆ ११ ◆

विश्व-रूप-दर्शन योग

इस अध्याय में भगवान् अपना विराट् स्वरूप अर्जुन को बतलाते हैं। भक्तों को यह अध्याय बहुत प्रिय है। इसमें दलीलें नहीं, बल्कि केवल काव्य है। इस अध्याय का पाठ करते-करते मनुष्य थकता ही नहीं।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोले—

आपने मुझपर कृपा करके यह आध्यात्मिक परम रहस्य कहा है। आपके मझसे कहे हुए इन वचनों से मेरा यह मोह टल गया है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

प्राणियों की उत्पत्ति और नाश के संबंध में आपसे मैंने विस्तारपूर्वक सुना। हे कमलपत्राक्ष, उसी प्रकार आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे परमेश्वर ! आप जैसा अपने को पहचनवाते हैं वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम ! आपके उस ईश्वरी रूप के दर्शन करने की मुझे इच्छा होती है।

मन्यसे यदि यच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो ! वह दर्शन करना मेरे लिए आप संभव मानते हों तो हे योगेश्वर ! उस अव्यय रूप का दर्शन कराइये।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्री भगवान् बोले—

हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों और हजारों रूप देख। वे नाना प्रकार के, दिव्य, भिन्न-भिन्न रंग और आकृतिवाले हैं।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दो अश्विनी-कुमारों और मरुतों को देख। पहले न देखे गये ऐसे बहुत-से आश्चर्यों को तू देख।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश ! यहाँ मेरे शरीर में एक रूप से स्थित समूचा स्थावर और जंगम जगत् तथा और जो कुछ तू देखना चाहता हो वह आज देख।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

इन अपने चर्म-चक्षुओं से तू मुझे नहीं देख सकता। तुझे मैं दिव्यचक्षु देता हूँ। तू मेरा ईश्वरीय योग देख।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय ने कहा—

हे राजन् ! योगेश्वर कृष्ण ने ऐसा कहकर पार्थ को अपना परम ईश्वरी रूप दिखलाया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

वह अनेक मुख और आँखों वाला, अनेक अद्भुत दर्शन वाला, अनेक दिव्य आभूषण वाला और अनेक उठाये हुए दिव्य शस्त्रों वाला था।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।।११।।

उसने अनेक दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण कर रखे थे, उसके दिव्य सुगन्धित लेप लगे हुए थे। ऐसा वह सर्व प्रकार से आश्चर्यमय, अनन्त, सर्वव्यापी देव था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।।१२।।

आकाश में हजार सूर्यों का तेज एक साथ प्रकाशित हो उठे तो वह तेज उस महात्मा के तेज-जैसा कदाचित् हो।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।१३।।

वहाँ इस देवाधिदेव के शरीर में पांडव ने अनेक प्रकार से विभक्त हुआ समूचा जगत एक रूप में विद्यमान देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।१४।।

फिर आश्चर्य-चकित और रोमांचित हुए धनंजय सिर झुका, हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।१५।।

अर्जुन बोले—

हे देव ! आपकी देह में मैं देवताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार के सब प्राणियों के समुदायों को, कमलासन पर विराजमान ईश ब्रह्मा को, सब ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देखता हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं-
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त, अनंत रूप वाला देखता हूँ। आपका अंत नहीं है, न मध्य है, न आपका आदि है। हे विश्वेश्वर ! आपके विश्व-रूप का मैं दर्शन कर रहा हूँ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेज के पुंज, सर्वत्र जगमगाती ज्योति वाले, साथ ही कठिनाई से दिखाई देने वाले, अपरिमित और प्रज्वलित अग्नि किंवा सूर्य के समान सभी दिशाओं में देदीप्यमान आपको मैं देख रहा हूँ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आपको मैं जानने योग्य परम अक्षर रूप, इस जगत का अंतिम आधार, सनातन धर्म का अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूँ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

जिसका आदि, मध्य या अंत नहीं है, जिसकी शक्ति अनंत है, जिसके अनन्त बाहु हैं, जिसके सूर्य चन्द्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है और जो अपने तेज से इस जगत् को तपा रहा है, ऐसे आपको मैं देख रहा हूँ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अंतर में और समस्त दिशाओं में आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन्! यह आपका अद्भुत उग्ररूप देखकर तीनों लोक थरथराते हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

और यह देवों का संघ आपमें प्रवेश कर रहा है। भयभीत हुए कितने ही हाथ जोड़कर आपका स्तवन कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों का समुदाय '(जगत् का) कल्याण हो' कहता हुआ अनेक प्रकार से आपका यश गा रहा है।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत, गरम ही पीने वाले पितर, गंधर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों का संघ ये सभी विस्मित होकर आपको निरख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

हे महाबाहो! बहुत मुख और आँखों वाला, बहुत हाथ, जंघा और पैरों वाला, बहुत पेटों वाला और बहुत दाढ़ों के कारण विकराल दीखने वाला विशाल रूप देखकर लोग व्याकुल हो गये हैं। वैसे ही मैं भी व्याकुल हो उठा हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

आकाश का स्पर्श करते, जगमगाते अनेक रंगों वाले, खुले मुख वाले और विशाल तेजस्वी नेत्र वाले, आपको देखकर हे विष्णु! मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है और मैं धैर्य या शांति नहीं रख सकता।

दंष्ट्रा करालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

प्रलय काल के अग्नि के समान और विकराल दाढ़ों वाला आप का मुख देखकर न मुझे दिशाएँ जान पड़ती हैं, न शांति मिलती है; हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्रा करालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥२७॥

सब राजाओं के संघ सहित, धृतराष्ट्र के ये पुत्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, यह सूत-पुत्र कर्ण और हमारे मुख्य योद्धा, विकराल दाढ़ों वाले आपके भयानक मख में वेग पूर्वक प्रवेश कर रहे हैं। कितनों के ही सिर चूर-चूर होकर आप के दांतों के बीच में लगे हुए दिखाई देते हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जिस प्रकार नदियों की बड़ी धाराएँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं उस प्रकार आपके धधकते हुए मुख में ये लोकनायक प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्तिलोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्ध वेगाः ॥२९॥

जलते हुए दीपक में जैसे पतंग बढ़ते हुए वेग से पड़ते हैं, वैसे ही आपके मुख में भी सब लोग बढ़ते हुए वेग से प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

सब लोकों को सब ओर से निगल कर आप अपने धधकते हुए मुख से चाट रहे हैं। हे सर्वव्यापी विष्णु ! आपका उग्र प्रकाश समूचे जगत् को तेज से पूरित कर रहा है और तपा रहा है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

उग्ररूप आप कौन हैं सो मुझसे कहिए। हे देववर ! आप प्रसन्न होइये। आप जो आदि कारण हैं उन्हें मैं जानना चाहता हूँ। आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं जानता।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्री भगवान् बोले—

लोकों का नाश करने वाला, बढ़ा हुआ मैं काल हूँ। लोकों का नाश करने के लिए यहाँ आया हूँ। प्रत्येक सेना में जो ये सब योद्धा आये हुए हैं उनमें से कोई तेरे लड़ने से इनकार करने पर भी बचने वाला नहीं है।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिए तू उठ खड़ा हो, कीर्ति प्राप्त कर, शत्रु को जीतकर धन-धान्य से भरा हुआ राज्य भोग। इन्हें मैंने पहले से ही मार रखा है। हे सव्यसाची! तू तो केवल निमित्त रूप बन।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा प्रतिष्ठ
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धाओं को मैं मार ही चुका हूँ। उन्हें तू मार; डर मत; लड़; शत्रु को तू रण में जीतने को है।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय ने कहा—

केशव के ये वचन सुनकर हाथ जोड़े, काँपते, वार-बार नमस्कार करते हुए, डरते-डरते, प्रणाम करके मुकुटधारी अर्जुन श्रीकृष्ण से गद्गद् कण्ठ से इस प्रकार बोले।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्ध संघाः ॥३६॥

अर्जुन बोले

हे हृषीकेश ! आपका कीर्तन करके जगत् को जो हर्ष होता है और आपके लिए जो अनुराग उत्पन्न होता है वह उचित ही है। भयभीत राक्षस इधर-उधर भाग रहे हैं और सिद्धान्तों का सारा समुदाय आपको नमस्कार कर रहा है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन् ! वे आपको क्यों नमस्कार न करें ? आप ब्रह्मा से भी बड़े आदिकर्ता हैं। हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास ! आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं, और इससे जो परे है वह भी आप ही हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया तत विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप आदिदेव हैं। आप पुराण-पुरुष हैं। आप इस विश्व के परम आश्रय-स्थान हैं। आप जानने वाले हैं, और जानने योग्य हैं। आप परमधाम हैं। हे अनंतरूप ! इस जगत् में आप व्याप्त हो रहे हैं ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। आपको हजारों बार नमस्कार पहुँचे और फिर-फिर आपको नमस्कार पहुँचे।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओर से नमस्कार है। आपका वीर्य अनन्त है, आपकी शक्ति अपार है, सब आप ही धारण करते हैं, इसलिए आप सर्व हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

मित्र जानकर और आपकी यह महिमा न जानकर हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा! इस प्रकार संबोधित कर मुझसे भूल में या प्रेम में भी जो अविवेक हुआ हो और विनोदार्थ खेलते, सोते, बैठते या खाते अर्थात् सोहबत में आपका जो कुछ अपमान हुआ हो उसे क्षमा करने के लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्य प्रतिमप्रभाव ॥४३॥

स्थावर जंगम जगत के आप पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है तो आपसे अधिक तो कहाँ से हो सकता है? तीनों लोकों में आपके सामर्थ्य का जोड़ नहीं है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्वर से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! जिस तरह पिता पुत्र को, सखा सखा को सहन करता है वैसे आप मेरे कल्याण के लिए मुझे सहन करने योग्य हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

पहले न देखा हुआ आपका ऐसा रूप देखकर मेरे रोयें खड़े हो गये हैं और भय से मेरा मन व्याकुल हो गया है। इसलिए हे देव ! अपना पहले का रूप दिखलाइये। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

पूर्व की भाँति आपका—मुकुट, गदा, चक्रधारी का दर्शन करना चाहता हूँ ! हे सहस्रबाहु ! हे विश्वमूर्ति ! अपना चतुर्भुज रूप धारण कीजिये।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—

हे अर्जुन! तुझपर प्रसन्न होकर तुझे मैंने अपनी शक्ति से अपना तेजोमय, विश्व-व्यापी, अनन्त, परम, आदिरूप दिखाया है; यह तेरे सिवा और किसी ने पहले नहीं देखा है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर! वेदाभ्यास से, यज्ञ से, अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन से, दान से, क्रियाओं से या उग्र तपों से तेरे सिवा दूसरा कोई यह मेरा रूप देखने में समर्थ नहीं है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

यह मेरा विकराल रूप देखकर तू घबरा मत, मोह में मत पड़। डर छोड़कर शान्त चित्त हो और यह मेरा परिचित रूप फिर देख।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय ने कहा—

यों वासुदेव ने अर्जुन से कहकर अपना रूप फिर दिखाया। और फिर शांतमूर्ति धारण करके भयभीत अर्जुन को उस महात्मा ने आश्वासन दिया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन ! यह आपका सौम्य मानवस्वरूप देखकर अब मैं शांत हुआ हूँ और ठिकाने आ गया हूँ।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्री भगवान् बोले—

जो मेरा रूप तूने देखा उसके दर्शन बहुत दुर्लभ हैं। देवता भी वह रूप देखने को तरसते रहते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेद से, न तप से, न दान से अथवा न यज्ञ से ही हो सकते हैं ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परंतप हे अर्जुन ! हे परंतप ! मेरे संबंध में ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्ति से ही संभव है ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे पांडव ! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्ति का त्याग करता है और प्राणी-मात्र में द्वेष-रहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है ।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'विश्व-रूप-दर्शन योग' नामक ग्यारहवाँ अध्याय ।

गीता-बोध

ग्यारहवाँ अध्याय

१२-१-३१
सोमप्रभात

अर्जुन ने विनय की : "भगवन ! आपने मुझे आत्मा के विषय में जो वचन कहे उससे मेरा मोह दूर होगया है। आप ही सब हैं, आप ही कर्ता हैं आप ही संहर्ता हैं, आप नाश-रहित हैं । यदि संभव हो तो अपने ईश्वरी रूप का दर्शन मुझे कराइये ।

भगवान् बोले : "मेरे रूप हजारों और अनेक रंग वाले हैं। उसमें आदित्य, वसु, रुद्र इत्यादि समाये हुए हैं मुझमें सारा जगत्-चर और अचर-समाया हुआ है। यह रूप तू अपने चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकता। अतः मैं तुझे दिव्य-चक्षु देता हूँ, उनके द्वारा तू देख ।"

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा : "हे राजन् ! भगवान् ने अर्जुन को यह कहकर अपना जो अद्भुत रूप दिखाया उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हम लोग नित्य एक सूर्य देखते हैं, पर ख़याल कीजिए कि ऐसे हजारों सूर्य नित्य उगें तो उनका तेज जैसा होगा उससे भी अधिक यह तेज चकाचौंध पैदा करने वाला था इसके आभूषण और वस्त्र भी ऐसे ही दिव्य थे। उसके दर्शन करके अर्जुन के रोयें खड़े हो गए, उसका सिर चकराने लगा और काँपते-काँपते वह स्तुति करने लगा :

हे देव ! आपकी इस विशाल देह में मैं तो सब कुछ और सब किसी को देखता हूँ। ब्रह्मा उसमें हैं, महादेव उसमें हैं, उसमें

ऋषि हैं, सर्प हैं, आपके हाथ-मुँह का गिनना कठिन है। आपका आदि नहीं है, अंत नहीं है, मध्य नहीं है। आपका रूप मानो तेज का सुमेरु है। देखते हुए आँखें चौंधिया जाती हैं, सुलगते हुए अंगारों की भाँति आप झलक रहे हैं और तप रहे हैं। आप ही जगत् के आधार हैं, आप ही पुराण-पुरुष हैं, आप ही धर्म के रक्षक हैं। जहाँ देखता हूँ वहाँ आपके अवयव दिखाई दे रहे हैं। सूर्य चंद्र तो आपकी आँखों सरीखे जान पड़ते हैं। आपने ही इस पृथ्वी और आकाश को व्याप्त कर रखा है। आपका तेज सारे जगत् को तपा रहा है यह जगत् थरथरा रहा है। देव, ऋषि, सिद्ध, इत्यादि सब हाथ जोड़कर काँपते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह विराट रूप और यह तेज देखकर मैं तो व्याकुल हो गया हूँ, शांति और धैर्य छूटा जा रहा है। हे देव ! प्रसन्न होइये आपकी दाढ़ें विकराल हैं, आपके मुँह में, जैसे दीपक पर पतंगे गिरते हैं, वैसे इन लोकों को गिरते देख रहा हूँ और आप उनको चूर कर रहे हैं। यह उग्र रूप आप कौन हैं ? आपकी प्रवृत्ति को मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।

भगवान् बोले : लोकों का नाश करने वाला मैं काल हूँ। तू चाहे लड़ या न लड़ : इन सबका नाश समझ। तू तो निमित्त-मात्र है।

अर्जुन बोला : हे देव ! हे जगन्निवास ! अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और उससे जो पर है वह भी आप ही हैं। आप आदिदेव हैं आप पुराण पुरुष हैं आप इस जगत् के आश्रय हैं। आप ही जानने योग्य हैं। वायु, यम, अग्नि, प्रजापति भी आप ही हैं। आपको हजारों नमस्कार पहुँचें। अब अपना मूल रूप धारण कीजिये।

इस पर भगवान् ने कहा : तेरे ऊपर प्रसन्न होकर मैंने तुझे अपना विश्वरूप दिखाया है। वेदाभ्यास से, यज्ञ से, अन्य शास्त्रों

के अभ्यास से, दान से, तप से भी यह रूप नहीं देखा जा सकता, जो तूने आज देखा है। इसे देखकर तू परेशान मत हो। भय त्यागकर शांत हो और मेरा परिचित रूप देख। मेरे यह दर्शन देवों को भी दुर्लभ हैं। यह दर्शन केवल शुद्ध भक्ति से ही हो सकते हैं। जो अपने सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझ में परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्ति-मात्र को छोड़ता है, और प्राणी-मात्र के विषय में प्रेममय रहता है वही मुझे पाता है।

टिप्पणी—दसवें की भाँति इस अध्याय को भी मैंने जान-बूझकर संक्षिप्त किया है। यह अध्याय काव्यमय है। इसलिए या तो मूल में अथवा अनुवाद रूप में जैसा है वैसा ही बारंबार पढ़ने योग्य है। इससे भक्ति का रस उत्पन्न होने की संभावना है। वह रस पैदा हुआ है या नहीं यह जानने की कसौटी अंतिम श्लोक है। सर्वार्पण बिना और सर्वव्यापक प्रेम के बिना भक्ति नहीं है। ईश्वर के कालरूप का मनन करने से और उसके मुख में सृष्टि-मात्र को समा जाना है—प्रतिक्षण काल का यह काम चलता ही रहता है—इसका भान हो जाने से सर्वार्पण और जीव-मात्र के साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे बिनचाहे इस मुख में हम अकल्पित क्षण में पड़नेवाले हैं। वहाँ छोटे-बड़े का, नीच-ऊँच का, स्त्री-पुरुष का, मनुष्य-मनुष्येतर का भेद नहीं रहता है। सब कालेश्वर के एक कौर हैं यह जानकर हम क्यों दीन, शून्यवत न बनें, क्यों सबके साथ मैत्री न करें? ऐसा करनेवाले को वह काल-स्वरूप भयंकर नहीं बल्कि शांति-स्थल लगेगा।

◆

◆ १२ ◆

भक्ति योग

पुरुषोत्तम के दर्शन अनन्यभक्ति से ही होते हैं, भगवान् के इस वचन के बाद तो भक्ति का स्वरूप ही सामने आना चाहिए। यह बारहवाँ अध्याय सबको कंठ कर लेना चाहिए। यह छोटे-से-छोटे अध्यायों में एक है। इसमें दिये हुए भक्त के लक्षण नित्य मनन करने योग्य हैं।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोले—

इस प्रकार जो भक्त आपका निरन्तर ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं और जो आपके अविनाशी अव्यक्त स्वरूप का ध्यान धरते हैं उनमें से कौन योगी श्रेष्ठ माना जायगा?

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

नित्य ध्यान करते हुए, मुझमें मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सब इन्द्रियों को वश में रखकर, सर्वत्र समत्व का पालन करके जो दृढ़, अचल, धीर, अचित्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविनाशी स्वरूप की उपासना करते हैं वे सारे प्राणियों के हित में लगे हुए मुझे ही पाते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

जिनका चित्त अव्यक्त में लगा हुआ है उन्हें कष्ट अधिक है। अव्यक्त गति को देहधारी कष्ट से ही पा सकता है।

टिप्पणी—देहधारी मनुष्य अमूर्ति स्वरूप की केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्त स्वरूप के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्द से संतोष करना ठहरा। इस दृष्टि से मूर्ति-पूजा का निषेध करने वाले भी सूक्ष्म रीति से विचारा जाय तो मूर्ति-पूजक ही होते हैं। पुस्तक की पूजा करना, मन्दिर में जाकर पूजा करना, एक ही दिशा में मुख रखकर पूजा करना, ये सभी साकार पूजा के लक्षण हैं। तथापि साकार के उस पार निराकार अचिंत्य स्वरूप है, इतना तो सबके समझ लेने में ही निस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवान में विलीन हो जाय और अन्त में केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाय। पर इस स्थिति को साकार द्वारा सुलभता से पहुँचा जा सकता है, इसलिए निराकार को सीधे पहुंचने का मार्ग कष्ट-साध्य बतलाया है ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

परन्तु हे पार्थ ! जो मुझमें परायण रहकर, सब कर्म मुझे समर्पण करके, एक निष्ठा से मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझमें जिनका चित्त पिरोया हुआ है उन्हें मृत्युरूपी संसार-सागर से मैं झटपट पार कर लेता हूँ ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझमें रख, इससे इस (जन्म) के बाद निःसंशय मुझे ही पायगा ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

जो तू मुझ में अपना मन स्थिर करने में असमर्थ हो तो हे धनंजय ! अभ्यास योग द्वारा मुझे पाने की इच्छा रखना ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

ऐसा अभ्यास रखने में भी तू असमर्थ हो तो कर्म-मात्र मुझे अर्पण कर और इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करते-करते भी तू मोक्ष पायगा ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और जो मेरे निमित्त कर्म करने भर की भी तेरी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग कर।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अभ्यास मार्ग से ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है। ज्ञानमार्ग से ध्यान-मार्ग विशेष है। और ध्यानमार्ग से कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है। क्योंकि इस त्याग के अन्त में तुरन्त शान्ति ही होती है।

टिप्पणी—अभ्यास अर्थात् चित्तवृत्ति निरोध की साधना; ज्ञान अर्थात् श्रवण-मननादि; ध्यान अर्थात् उपासना। इनके फल-स्वरूप यदि कर्म-फल-त्याग न दिखाई दे तो वह अभ्यास अभ्यास नहीं है, ज्ञान ज्ञान नहीं है और ध्यान ध्यान नहीं है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःख सुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो प्राणी-मात्र के प्रति द्वेष-रहित, सबका मित्र, दयावान, ममता-रहित, अहंकार-रहित, सुख-दुःख में समान, क्षमावान सदा संतोषी, योगयुक्त, इंद्रिय-निग्रही और दृढ़निश्चयी है, और मुझमें जिसने अपनी बुद्धि और मन अर्पण कर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों से उद्वेग नहीं पाता; जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है ।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो इच्छारहित है, पवित्र है, दक्ष (सावधान) है, तटस्थ है, चिन्तारहित है, संकल्प-मात्र का जिसने त्याग किया है वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जिसे हर्ष नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो चिन्ता नहीं करता, जो आशाएँ नहीं बाँधता, जो शुभाशुभ का त्याग करने वाला है, वह भक्ति-परायण मुझे प्रिय है ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख—इन सबमें जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निन्दा और स्तुति में समान भाव से बर्तता है और मौन धारण करता है,

चाहे जो मिले उससे जिसे संतोष है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है, जो स्थिर चित्त वाला है, ऐसा मुनि भक्त मझे प्रिय है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

यह पवित्र अमृतरूप ज्ञान जो मुझ में परायण रहकर श्रद्धा-पूर्वक सेवन करते हैं वे मेरे अतिशय प्रिय भक्त हैं।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात ब्रह्मविद्यां-
तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का
'भक्तियोग' नामक बारहवाँ अध्याय ।

गीता-बोध

बारहवाँ अध्याय

४–११–३०

मंगलप्रभात

आज तो बारहवें अध्याय का सार देना चाहता हूँ। यह भक्ति योग है। विवाह के अवसर पर दंपति को पाँच यज्ञों में इसे भी एक यज्ञरूप से कंठ करके मनन करने को हम कहते हैं। भक्ति के बिना ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके बंधनरूप हो जाने की संभावना है। इसलिए भक्ति-भाव से गीता का यह मनन आरंभ करना चाहिए।

अर्जुन ने भगवान् से पूछा : साकार और निराकार को पूजनेवाले भक्तों में अधिक श्रेष्ठ कौन है?

भगवान् ने उत्तर दिया : जो मेरे साकार रूप का श्रद्धापूर्वक मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं, वे श्रद्धालु भक्त हैं। पर जो निराकार तत्त्व को भजते हैं और उसे भजने के लिए समस्त इंद्रियों का संयम करते हैं, सब जीवों के प्रति समभाव रखते हैं, उनकी सेवा करते हैं, किसी को ऊँच-नीच नहीं गिनते वे भी मुझे पाते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि दोनों में अमुक श्रेष्ठ है। पर निराकार की भक्ति शरीर धारी द्वारा संपूर्ण रूप से होना अशक्य माना जाता है, निराकार निर्गुण है अतः मनुष्य की कल्पना से परे है। अतः सब देहधारी जाने-अनजाने साकार के ही भक्त हैं। इसलिए तू तो मेरे साकार विश्वरूप में ही अपना मन पिरो। सब उसे सौंप दे। पर यह न कर सकता हो तो चित्त के विकारों को रोकने का अभ्यास कर, यानी यम-नियम

आदि का पालन करके प्राणायाम, आसन आदि की मदद लेकर मन को वश में कर। ऐसा भी न कर सकता हो तो जो कुछ करता है सो मेरे ही लिए करता है इस धारणा से अपने सब काम कर, तो तेरा मोह, तेरी ममता क्षीण होती जायगी और त्यों-त्यों तू निर्मल—शुद्ध होता जायगा और तुझमें भक्ति-रस आ जायगा। यह भी न हो सकता हो तो कर्म-मात्र के फल का त्याग कर दे यानी फल की इच्छा छोड़ दे। तेरे हिस्से जो काम आ पड़े उसे करता रह। फल का मालिक मनुष्य हो ही नहीं सकता। बहुतेरे अंगों के एकत्र होने पर तब फल उपजता है, अतः तू केवल निमित्त-मात्र हो जा। जो चार रीतियाँ मैंने बताई हैं उनमें किसी को कमो-बेश मत मानना। इनमें जो तुझे अनुकूल हो उससे तू भक्ति का रस ले ले। ऐसा लगता है कि ऊपर जो यम-नियम, प्राणायाम, आसन आदि का मार्ग बता आये हैं उनकी अपेक्षा श्रवण-मनन आदि ज्ञान-मार्ग सरल है। उसकी अपेक्षा उपासना रूप ध्यान सरल है, और ध्यान की अपेक्षा कर्म फल-त्याग सरल है। सबके लिए ही वस्तु समान भाव से सरल नहीं होती। और किसी-किसी को सभी मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक दूसरे के साथ मिले-जुले तो हैं ही। चाहे जिस मार्ग से हो तुझे तो भक्त होना है। जिस मार्ग से भक्ति सधे उस मार्ग से साध। मैं तुझे भक्त के लक्षण बतलाता हूँ—भक्त किसी का द्वेष न करे, किसी के प्रति वैर-भाव न रखे, जीव-मात्र से मैत्री रखे, जीव-मात्र के प्रति करुणा का अभ्यास करे, ऐसा करने के लिए ममता छोड़, अपनापन मिटा कर शून्यवत हो जाय, दुःख-सुख को समान माने। कोई दोष करे तो उसे क्षमा करे, (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषों के लिए संसार से क्षमा का भूखा है) संतोषी रहे,

अपने शुभ निश्चयों से कभी विचलित न हो। मन बुद्धि सहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे। उससे लोगों को उद्वेग नहीं होना चाहिए, न लोग उससे डरें, वह स्वयं लोगों से न दुःख माने व डरे। मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय आदि से मुक्त होता है। उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, वह बड़े-बड़े आरंभों को त्यागे हुए होता है, निश्चय में दृढ़ होते हुए भी शुभ और अशुभ परिणाम, दोनों का वह त्याग करता है, अर्थात् उसके बारे में निश्चित रहता है। उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन ? उसे मान क्या, अपमान क्या ? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाय उससे संतोष रखकर एकाकी की भाँति विचरता हुआ सब स्थितियों में स्थिर होकर रहता है। इस भाँति श्रद्धालु होकर चलने वाला मेरा भक्त है।

टिप्पणी—

प्रश्न—'भक्त आरंभ न करे' का क्या मतलब है, कोई दृष्टान्त देकर समझाइये ?

उत्तर—'भक्त आरंभ न करे' इसका मतलब यह है कि किसी भी व्यवसाय के मनसूबे न गाँठे। जैसे एक व्यापारी, आज कपड़े का व्यापार करता है तो कल उसमें लकड़ी का और शामिल करने का उद्यम करने लगा, अथवा कपड़े की एक दूकान है तो कल पाँच और दूकानें खोल बैठा, इसका नाम आरंभ है। भक्त उसमें न पड़े। यह नियम सेवा-कार्य में भी लागू होता है। आज खादी की मारफत सेवा करता है तो कल गाय की मारफत, परसों खेती की मारफत, और चौथे दिन डाक्टरी की मारफत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्से में जो आ जाय उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। जहाँ 'मैं' गया, वहाँ 'मुझे' क्या करने को रह जाता है ?

"सूतरने तांतणे मने हरजीए बाँधी,

छेम ताणे तेमनी रे

मने लागी कटारी प्रेमनी रे"*

भक्त के सब आरंभ भगवान् रचता है। उसे तब कम-प्रवाह प्राप्त होते हैं, इससे वह 'संतुष्टो येन केनचित्' रहे। सर्वारंभ त्याग का भी यही अर्थ है। सर्वारंभ अर्थात् सारी प्रवृत्ति या काम नहीं बल्कि उन्हें करने के विचार, मनसूबे गाँठना। उनका त्याग करने के मानी उनका आरंभ न करना, मनसूबे गाँठने की आदत हो तो उसे छोड़ देना। 'इदमद्य मया लब्धं इमं प्राप्स्ये मनोरथम्' यह आरंभ त्याग का उलटा है। मेरे ख़याल में तुम जो जानना चाहते हो सब इसमें आ जाता है, कुछ बाकी रह गया हो तो पूछना।



* मुझे भगवान् ने सूत के धागे से बाँध लिया है। ज्यों-ज्यों तानते हैं मैं उनका होता जाता हूँ। मुझे तो प्रेम-कटारी लग गई है।

• १३ •

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योग

इस अध्याय में शरीर और शरीरी का भेद बतलाया है।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्री भगवान् बोले—

हे कौंतेय! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इसे जो जानता है उसे तत्त्वज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

और हे भारत! समस्त क्षेत्रों—शरीरों—में स्थित मुझको क्षेत्रज्ञ जान। मेरा मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, कैसे विकार वाला है, कहाँ से है, और क्षेत्रज्ञ कौन है, उसकी शक्ति क्या है, यह मुझसे संक्षेप में सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

विविध छंदों में, भिन्न-भिन्न प्रकार से और उदाहरण युक्तियों द्वारा, निश्चययुक्त, ब्रह्मसूचक वाक्यों में ऋषियों ने इस विषय को बहुत गाया है ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

महाभूत, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतनशक्ति, धृति—यह अपने विकारों सहित क्षेत्र संक्षेप में कहा है ।

टिप्पणी—महाभूत पाँच हैं—पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश । अहंकार अर्थात् शरीर के प्रति विद्यमान अहंता, अहं-पना । अव्यक्त अर्थात् अदृश्य रहनेवाली माया, प्रकृति । दस इंद्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—नाक, कान, आँख, जीभ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ—हाथ, पैर, मुँह और दो गुह्येन्द्रियाँ । पाँच गोचर अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय—सूँघना, सुनना, देखना, चखना, और छूना । संघात अर्थात् शरीर के तत्वों की परस्पर सहयोग करने की शक्ति । धृति अर्थात् धैर्यरूपी सूक्ष्म गुण नहीं, किन्तु इस शरीर के परमाणुओं का एक दूसरे से सटे रहने का गुण । यह गुण अहंभाव के कारण ही संभव है और यह अहंता अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान है । मोहरहित मनुष्य इस अहंता का ज्ञानपूर्वक त्याग करता है । और इस कारण मृत्यु के समय

या दूसरे आघात से वह दुःख नहीं पाता। ज्ञानी-अज्ञानी सबको, अन्त में तो, इस विकारी क्षेत्र का त्याग किये ही निस्तार है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्म-संयम, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकाररहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषों का निरंतर भान, पुत्र, स्त्री, और गृह आदि में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यान पूर्वक एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जन-समूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्म-दर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है वह अज्ञान है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जिसे जानने वाले मोक्ष पाते हैं वह ज्ञेय क्या है, सो तुमसे कहूँगा। वह अनादि परब्रह्म है, वह न सत् कहा जा सकता है, न असत् कहा जा सकता है।

टिप्पणी—परमेश्वर को सत् या असत् भी नहीं कहा जा सकता। किसी एक शब्द से उसकी व्याख्या या परिचय नहीं हो सकता, ऐसा वह गुणातीत स्वरूप है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

जहाँ देखो वहीं इसके हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुँह, और कान हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर वह इस लोक में विद्यमान हैं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

सब इन्द्रियों के गुणों का आभास उसमें मिलता है तो भी वह स्वरूप इंद्रिय रहित और सबसे अलिप्त है, तथापि सबको धारण करने वाला है; वह गुणरहित होने पर भी गुणों का भोक्ता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वह भूतों के बाहर है और अन्दर भी है। वह गतिमान है और स्थिर भी है। सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है। वह दूर है और समीप भी है।

टिप्पणी—जो उसे पहचानता है वह उसके अन्दर है। गति और स्थिरता, शांति और अशांति हम लोग अनुभव करते हैं, और सब भाव उसी में से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह गतिमान और स्थिर है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

भूतों में वह अविभक्त है और विभक्त-सरीखा भी विद्यमान है! वह जानने योग्य (ब्रह्म) प्राणियों का पालक, नाशक और कर्ता है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

ज्योतियों की भी वह ज्योति है, अंधकार से वह परे कहा जाता है। ज्ञान वही है, जानने योग्य वही है और ज्ञान से जो प्राप्त होता है वह भी वही है। वह सबके हृदय में मौजूद है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के विषय में मैंने संक्षेप में बतलाया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे भाव को पाने योग्य बनता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जान। विकार और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य और कारण का हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष सुख-दुःख के भोग में हेतु कहा जाता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

प्रकृति में रहने वाला पुरुष प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों को भोगता है और यह गुण-संग भली-बुरी योनि में उसके जन्म का कारण बनता है।

टिप्पणी—प्रकृति को हम लोग लौकिक भाषा में माया के नाम से पुकारते हैं। पुरुष जीव है। माया अर्थात् मूल स्वभाव के वशीभूत हो जीव सत्व, रजस् या तमस् से होने वाले कार्यों का फल-भोक्ता है और इससे कर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

इस देह में स्थित जो परम-पुरुष है वह सर्व साक्षी, अनुमति देने वाला, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो मनुष्य इस प्रकार पुरुष और गुणमयी प्रकृति को जानता है, वह सर्व प्रकार से कार्य करता हुआ भी फिर जन्म नहीं पाता।

टिप्पणी—२, ६, १२ और अन्यान्य अध्यायों की सहायता से हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचार का समर्थन करने वाला नहीं है, बल्कि भक्ति की महिमा बतलाने वाला है। कर्म-मात्र जीव के लिए बंधनकर्ता है किंतु यदि वह सब कर्म परमात्मा को अर्पण कर दे तो वह बंधन-मुक्त हो जाता है। और इस प्रकार जिसमें से कर्तृत्व रूपी अहंभाव नष्ट हो गया है और जो अंतर्यामी को चौबीसों घंटे पहचान रहा है वह पाप-कर्म कर ही नहीं सकता। पाप का मूल ही अभिमान है। जहाँ 'मैं' नहीं है वहाँ पाप नहीं है। यह श्लोक पाप-कर्म न करने की युक्ति बतलाता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई ध्यान मार्ग से आत्मा द्वारा आत्मा को अपने में देखता है; कितने ही ज्ञान-मार्ग से और दूसरे कितने ही कर्म-मार्ग से।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

और कोई इन मार्गों को न जानने के कारण दूसरों से परमात्मा के विषय में सुनकर, सुने हुए पर श्रद्धा रखकर और उसमें परायण रहकर उपासना करते हैं और वे भी मृत्यु को तर जाते हैं।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

जो कुछ चर या अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह हे भरतर्षभ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुई जान।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समस्त नाशवान प्राणियों में अविनाशी परमेश्वर को समभाव से मौजूद जो जानता है वही उसका जानने वाला है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

जो मनुष्य ईश्वर को सर्वत्र समभाव से अवस्थित देखता है वह अपने-आपका घात नहीं करता और इससे परमगति को पाता है।

टिप्पणी—समभाव से अवस्थित ईश्वर को देखने वाला आप उसमें विलीन हो जाता है और अन्य कुछ नहीं देखता। इसलिए विकार वश न होकर मोक्ष पाता है, अपना शत्रु नहीं बनता।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है ऐसा जो समझता है और इसीलिए आत्मा को अकर्तारूप जानता है वही जानता है।

टिप्पणी—कैसे, जैसे कि सोते हुए मनुष्य का आत्मा निद्रा का कर्ता नहीं है, किन्तु प्रकृति निद्रा का कर्म करती है। निर्विकार मनुष्य के नेत्र कोई गन्दगी नहीं देखते। प्रकृति व्यभिचारिणी नहीं है। अभिमानी पुरुष जब उसका स्वामी बनता है तब उस मिलाप में से विषय-विकार उत्पन्न होते हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जब वह जीवों का अस्तित्व पृथक् होने पर भी एक में ही स्थित देखता है और इसीलिए सारे विस्तार को उसी से उत्पन्न हुआ समझता है तब वह ब्रह्म को पाता है।

टिप्पणी—अनुभव से सब कुछ ब्रह्म में ही देखना ब्रह्म को प्राप्त करना है। उस समय जीव शिव से भिन्न नहीं रह जाता।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे कौंतेय! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण शरीर में रहता हुआ भी न कुछ करता और न किसी से लिप्त होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सूक्ष्म होने के कारण सर्व व्यापी आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे सब देह में रहने वाला आत्मा लिप्त नहीं होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

जैसे एक ही सूर्य इस समूचे जगत् को प्रकाश देता है, वैसे हे भारत! क्षेत्री समूचे क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

जो ज्ञान-चक्षु द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद और प्रकृति के बन्धन से प्राणियों की मुक्ति कैसे होती है यह जानता है वह ब्रह्म को पाता है ।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग शास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योग नामक तेरहवाँ अध्याय ।

गी ता-बो ध

तेरहवाँ अध्याय

२६-१-३२

सोमप्रभात

श्री भगवान बोले : इस शरीर का दूसरा नाम क्षेत्र है और उसके जाननेवाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब शरीरों में मौजूद जो मैं (भगवान्) हूँ, उसे क्षेत्रज्ञ समझ, और वास्तविक ज्ञान वह है कि जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जाना जाय। पंच महाभूत—पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियाँ—पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और पाँच कर्मेंद्रियाँ, एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात अर्थात् शरीर जिससे बना हुआ है उसकी एक होकर रहने की शक्ति, चेतन-शक्ति, शरीर के परमाणुओं में एक दूसरे से चिपटे रहने का गुण, यह सब मिलकर विकारोंवाला क्षेत्र बना। इस शरीर को और उसके विकारों को जानना चाहिए क्योंकि उनको त्यागना है। इस त्याग के लिए ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान अर्थात् मानीपने का त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु-सेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयों पर अंकुश, विषयों में वैराग्य, अहंकार का त्याग, जन्म, मृत्यु बुढ़ापा और उसके सिलसिले में रहे हुए रोग-समूह, दुःख-समूह, और नित्य होनेवाले दोषों का पूरा भान, स्त्री, पुत्र, घर, द्वार सगेसंबंधी इत्यादि में से मन को खींच लेना और ममता छोड़ना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मन के प्रतिकूल—उसमें समता रखना, ईश्वर को अनन्य भक्ति, एकांत-सेवन, लोगों में मिलकर भोग भोगने की ओर अरुचि, आत्मा के विषय में ज्ञान की प्यास और

अंत में आत्म-दर्शन। इससे विपरीत नाम अज्ञान है। इस ज्ञान के साधन से जो जानने की चीज़ है— ज्ञेय है और जिसे जानने से मोक्ष मिलता है उसके विषय में थोड़ा सुन। यह ज्ञेय अनादि परब्रह्म है। अनादि है—अर्थात् उसे जन्म नहीं है—जब कुछ नहीं था तब भी वह परब्रह्म तो था। वह सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। उससे भी परे है। अन्य दृष्टि से उसे सत कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है। तथापि उसकी नित्यता को भी नहीं पह-चान सकता इससे उसे सत् से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नहीं है। उसे हजारों हाथ-पाँवों वाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसे हाथ-पर आदि हैं यह जान पड़ते हुए भी वह इंद्रिय-रहित है, उसे इंद्रियों की आवश्यकता नहीं है; उनसे वह अलिप्त है। इंद्रियाँ तो आज हैं और कल नहीं हैं। परब्रह्म तो नित्य है ही। इंद्रियाँ तो आज हैं और कल नहीं है, उनसे वह अलिप्त है। यद्यपि वह सबमें व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है, इससे गुणों का भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नहीं पह-चानते उनके हिसाब से तो वह बाहर ही है। प्राणियों के अंदर तो वह है ही, क्योंकि सर्वव्यापक है। वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े। दूर भी है और नजदीक भी है। नाम रूप का नाश है तथापि वह तो है ही, इस प्रकार अविभक्त है। पर असंख्य प्राणियों में है यह भी कहते हैं, इससे वह विभक्त रूप से भी भासित होता है। वह उत्पन्न करता है, पालता है, और वही मारता है। तेजों का तेज है, अंधकार से परे है, ज्ञान का किनारा उसमें आ गया है। इन सब में मौजूद परब्रह्म यही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञान-मात्र की प्राप्ति केवल उसकी प्राप्ति के लिए ही है।

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादि से चलते आये हैं। माया में से विकार पैदा होते हैं, और उनसे अनेक प्रकार के कर्म पैदा होते हैं। माया के कारण जीव सुख-दुःख, पाप-पुण्य का भोगनेवाला बनता है, यह जानकर जो अलिप्त रहकर कर्तव्य-कर्म करता है वह कर्म करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता। क्योंकि वह सर्वत्र ईश्वर को ही देखता है। और उसकी प्रेरणा के बिना एक पत्ता तक नहीं हिल सकता यह जानकर वह अपने बारे में अहंता को नहीं मानता है, अपने को शरीर से अलग देखता है और समझता है कि जैसे आकाश सर्वत्र होते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है, वैसे जीव शरीर में रहते हुए भी ज्ञान द्वारा निर्लिप्त रह सकता है।



◆ १४ ◆

गुण-त्रय विभाग योग

गुणमयी प्रकृति का थोडा परिचय कराने के बाद स्वभावतः तीनों गुणों का वर्णन इस अध्याय में आता है। और यह करते हुए गुणातीत के लक्षण भगवान् गिनाते हैं। दूसरे अध्याय में जो लक्षण स्थितप्रज्ञ के दिखाई देते हैं, बारहवें में जो भक्त के दिखाई देते हैं, वैसे इसमें गुणातीत के हैं।

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

श्री भगवान् बोले—

ज्ञानों में जिस उत्तम ज्ञान का अनुभव करके सब मुनियों ने यह शरीर छोड़ने पर परम गति पाई है वह मैं तुमसे फिर कहूँगा।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर जिन्होंने मेरे भाव को प्राप्त किया है उन्हें उत्पत्ति-काल में जन्मना नहीं पड़ता और प्रलय-काल में व्यथा भोगनी नहीं पड़ती।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे भारत ! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है। उसमें मैं गर्भाधान करता हूँ और उससे प्राणी-मात्र की उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कौंतेय ! सब योनियों में जिन-जिन प्राणियों की उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्ति का स्थान मेरी प्रकृति है और उसमें बीजारोपण करने वाला पिता—पुरुष—मैं हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

हे महाबाहो ! सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुण हैं। वे अविनाशी देहधारी—जीव—को देह के संबंध में बाँधते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥६॥

इनमें सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और आरोग्य कर है, और हे अनघ ! वह देही को सुख के और ज्ञान के संबंध में बाँधता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥७॥

हे कौन्तेय ! रजोगुण रागरूप होने से तृष्णा और आसक्ति का मूल है, वह देहधारी को कर्म-पाश में बाँधता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

हे भारत ! तमोगुण अज्ञानमूलक है। वह देहधारी-मात्र को मोह में डालता है और वह देही को असावधानी, आलस्य तथा निद्रा के पाश में बाँधता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

हे भारत । सत्त्व आत्मा को शान्ति-सुख का संग कराता है, रजस् कर्म का और तमस् ज्ञान को ढककर प्रमाद का संग कराता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत ! जब रजस् और तमस् दबते हैं तब सत्त्व ऊपर आता है; सत्त्व और तमस् दबते हैं तब रजस् और सत्त्व तथा रजस् दबते हैं तब तमस् उभरता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

सब इन्द्रियों द्वारा इस देह में जब प्रकाश और ज्ञान का उद्भव होता है तब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिए।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुण की वृद्धि होती है तब लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरंभ, अशान्ति और इच्छा का उदय होता है ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन ! जब तमोगुण की वृद्धि होती है तब अज्ञान, मन्दता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है ।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

सत्त्वगुण की वृद्धि हुई होने पर देहधारी मरता है तो वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोक को पाता है ।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुण में मृत्यु होने पर देहधारी कर्मसंगी के लोक में जन्मता है और तमोगुण में मृत्यु पाने वाला मूढ़योनि में जन्मता है ।

टिप्पणी—कर्मसंगी से तात्पर्य है मनुष्य लोक और मूढ़योनि से तात्पर्य है पशु इत्यादि लोक ।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सत्कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल होता है। राजसी कर्म का फल दुःख होता है, और तामसी कर्म का फल अज्ञान होता है।

टिप्पणी—जिसे हम लोग सुख-दुःख मानते हैं यहाँ उस सुख-दुःख का उल्लेख नहीं समझना चाहिए। सुख से मतलब है आत्मानन्द, आत्म-प्रकाश। इससे जो उलटा है वह दुःख है। १७ वें श्लोक में यह स्पष्ट हो जाता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वगुण में से ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुण में से लोभ और तमोगुण में से असावधानी. मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सात्त्विक मनुष्य ऊपर चढ़ते हैं, राजसी मध्य में रहते हैं और अन्तिम गुणवाले तामसी अधोगति पाते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

ज्ञानी जब ऐसा देखता है कि गुणों के सिवा और कोई कर्ता नहीं है और जो गुणों से परे है उसे जानता है तब वह मेरे भाव को पाता है।

टिप्पणी—गुणों को कर्ता मानने वाले को अहंभाव होता ही नहीं। इससे उसके सब काम स्वाभाविक और शरीर-यात्रा-भर के लिए होते हैं। और शरीर-यात्रा परमार्थ के लिए ही होती है, इसलिए उसके सारे कामों में निरन्तर त्याग और वैराग्य होना चाहिए। ऐसा ज्ञानी स्वभावतः गुणो से परे निर्गुण ईश्वर की भावना करता और उसे भजता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देह के संग से उत्पन्न होने वाले इन तीन गुणों को पार करके देहधारी जन्म, मृत्यु और जरा के दुःख से छूट जाता है और मोक्ष पाता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोले—

हे प्रभो! इन गुणों को नर जाने वाला किन लक्षणों से पहचाना जाता है? उसके आचार क्या होते हैं? और वह तीनों गुणों को किस प्रकार पार करता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

श्रीभगवान् बोले—

हे पांडव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर जो दुःख नहीं मानता और इनके प्राप्त न होने पर इनकी इच्छा नहीं करता, उदासीन की भाँति जो स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, गुण ही अपना काम कर रहे हैं यह मानकर जो स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता, जो सुख-दुःख में सम रहता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, प्रिय तथा अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर एक समान रहता है, ऐसा बुद्धिमान जिसे अपनी निन्दा या स्तुति समान है, जिसे मान और अपमान समान है, जो मित्र-पक्ष और शत्रु-पक्ष में समान भाव रखता है और जिसने समस्त आरंभों का त्याग कर दिया है, वह गुणातीत कहलाता है।

टिप्पणी—२२ से २५ श्लोक तक एक साथ विचारने योग्य है। प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह पिछले श्लोक में कहे अनुसार क्रम से सत्व, रजस् और तमस् के परिणाम अथवा चिह्न हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो गुणों को पार कर गया है उसपर उस परिणाम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पत्थर प्रकास की इच्छा नहीं करता, न प्रवृत्ति या जड़ता का द्वेष करता है; उसे बिना चाहे शान्ति है, उसे कोई गति देता है तो वह उसका द्वेष नहीं करता। गति देने के बाद उसे ठहरा करके रख देता है तो इससे,

प्रवृत्ति—गति बन्द हो गई, मोह—जड़ता प्राप्त हुई, ऐसा सोचकर वह दुःखी नहीं होता; वरन तीनों स्थितियों में वह एक समान वर्तता है। पत्थर और गुणातीत में अन्तर यह है कि गुणातीत चेतनमय है और उसने ज्ञानपूर्वक गुणों के परिणामों का—स्पर्श का त्याग किया है और जड़ पत्थर-सा बन गया है। पत्थर गुणों का अर्थात् प्रकृति के कार्यों का साक्षी है; पर कर्ता नहीं है, वैसे ज्ञानी उसका साक्षी रहता है, कर्ता नहीं रह जाता। ऐसे ज्ञानी के सम्बन्ध में यह कल्पना की जा सकती है कि वह २३ वें श्लोक के कथनानुसार 'गुण अपना काम किया करते हैं'; यह मानता हुआ विचलित नहीं होता और अचल रहता है; उदासीन-सा रहता है—अडिग रहता है। यह स्थिति गुणों में तन्मय हुए हम लोग धैर्यपूर्वक केवल कल्पना करके समझ सकते हैं, अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु उस कल्पना को दृष्टि में रखकर हम 'मैं' पने को दिन-दिन घटाते जायं तो अन्त में गुणातीत की अवस्था के समीप पहुँचकर उसकी झाँकी कर सकते हैं। गुणातीत अपनी स्थिति का अनुभव करता है, वर्णन नहीं कर सकता। जो वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नहीं है, क्योंकि उसमें अहंभाव मौजूद है। जिसे सब लोग सहज में अनुभव कर सकते हैं वह शांति, प्रकाश, 'धाँधल'—प्रवृत्ति और जड़ता—मोह है। गीता में स्थान-स्थान पर इसे स्पष्ट किया है कि सात्विकता गुणातीत के समीप-से-समीप की स्थिति है। इसलिए मनुष्य-मात्र का प्रयत्न सत्त्वगुण के विकास करने का है। यह विश्वास रखे कि उसे गुणातीतता अवश्य प्राप्त होगी।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो एकनिष्ठ भक्ति योग द्वारा मुझे सेता है वह इन गुणों को पार करके ब्रह्मरूप बनने योग्य होता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

और ब्रह्म की स्थिति मैं ही हूँ, शाश्वत मोक्ष की स्थिति मैं हूँ। वैसे ही सनातन धर्म की और उत्तम सुख की स्थिति भी मैं ही हूँ।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतगत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'गुण-त्रय-विभाग योग' नामक चौदहवाँ अध्याय।

गी ता–बो ध

चौदहवाँ अध्याय

२५-१-३२

मौनवार

श्री भगवान बोले : जिस उत्तम ज्ञान को पाकर ऋषि-मुनियों ने परम सिद्धि पाई ह वह मैं तुझसे फिर कहता हूँ. उस ज्ञान के पाने और उसके अनुसार धम का आचरण करने से लोग जन्म-मरण के चक्कर से बच जाते हैं। हे अर्जुन; ! यह समझ कि मैं जीव-मात्र का माता-पिता हूँ। प्रकृति-जन्य तीन गुण—सत्व रजस् और तमस्–देही को बाँधने वाले हैं। इन गुणों को उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भी कह सकते हैं। इनमें सत्वगुण निर्मल और निर्दोष है, प्रकाश देने वाला है और इससे उसका संग सुखद होता है। रजस् राग से, तृष्णा से पैदा होता है और वह मनुष्य को गड़बड़ में डालता है। तमस् का मूल अज्ञान है, मोह है और इससे मनुष्य प्रमादी और आलसी बनता है। अतः संक्षेप में कहा जाय तो सत्व में से सुख, रजस् में से तृष्णादि और तमस् में से आलस्य पैदा होता ह। रजस् और तमस् को दबाकर सत्व जय प्राप्त करता है और सत्व और रजस को दबाकर तमस् जय पाता है। देहके सब कामों में जब ज्ञान का अनुभव देखने में आवे तब यह जानना कि अब सत्व गुण प्रधान रूप से काम कर रहा है। जब लोभ, गड़बड़, अशांति, प्रतिद्वंद्विता दिखाई दे

तब रजस् की वृद्धि जानो। और जब अज्ञान, आलस्य, मोह का अनुभव हो तब समझो कि तमस् का राज्य है। इसके जीवन में सत्व गुण प्रधान होता है वह मृत्यु के अंत में ज्ञानमय निर्दोष लोक में जन्म पाता है, रजस् प्रधान जो होता है वह धाँधली (गड़बड़) लोक में जाता है, और तमस् प्रधान मूढ़ योनि में जन्मता है। सात्विक लोक को उच्चगति, राजस की मध्यम और तामस् की अधोगति होती है। मनुष्य जब गुणों के सिवा दूसरे को कर्ता नहीं समझता और गुणों से परे जो मैं हूँ उसे जानता है तब वह मेरे भाव को पाता है। देह में विद्यमान इन तीन गुणों को जो देही पार कर जाता है वह जन्म, और मृत्यु के दुःख से छूटकर अमृतमय मोक्ष को प्राप्त होता है।

अर्जुन पूछता है : गुणातीत की ऐसी सुन्दर गति होती है, तो बतलाइए कि इसके लक्षण कैसे हैं, इसका आचरण कैसा है, और तीनों गुणों को किस प्रकार पार किया जाय ?

भगवान उत्तर देते हैं : जो मनुष्य अपने पर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो, प्रवृत्ति हो, या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान, उसका अतिशय दुःख या सुख न माने या इच्छा न करे; जो गुणों के बारे में तटस्थ रहकर विचलित नहीं होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते हैं यह समझ कर जो स्थिर रहता है, जो सुख-दुःख को सम मानता है, जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान हैं, जिसे प्रिय-अप्रिय की बात नहीं है, जिस पर अपनी स्तुति या निन्दा कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, जिसे मान-अपमान समान हैं, जो शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है, जिसने सब आरम्भों का त्याग किया है वह गुणातीत कहलाता है। मेरे बताये इन लक्षणों से भड़कने की जरूरत नहीं है, न आलसी होकर सिर पर हाथ रख कर बैठ जाने की। मैंने तो सिद्ध की

दशा बतलाई है। उसे पहुँचने का मार्ग यह है—व्यभिचार-रहित भक्ति योग के द्वारा मेरी सेवा कर। (तीसरे अध्याय से लगाकर) तुझे बताया है कि कर्म विना, प्रवृत्ति विना कोई साँस तक नहीं ले सकता, अतः कर्म तो देही-मात्र को लगे हुए हैं। जो गुणों को पार कर जाना चाहता है वह साधक सब कर्म मुझे अर्पण करे और फल की इच्छा तक भी न करे। ऐसा करने में उसके कर्म उसे विघ्नरूप नहीं होंगे। क्योंकि ब्रह्म मैं हूँ, सनातन धर्म मैं हूँ, अनन्त सुख मैं हूँ, जो कहो वह मैं हूँ। मनुष्य शून्यवत् हो जाय तो मुझे ही सर्वत्र देखे। इसे गुणातीत कहेंगे।

◆

• १५ •

पुरुषोत्तम योग

भगवान् ने इस अध्याय में क्षर और अक्षर से परे अपना उत्तम स्वरूप समझाया है।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

श्री भगवान् बोले—

जिसका मूल ऊँचे है, जिसकी शाखा नीचे है, और वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष का बुद्धिमान लोगों ने वर्णन किया है, इसे जो जानते हैं वे वेद के जानने वाले ज्ञानी हैं।

टिप्पणी—'श्वः' का अर्थ है आने वाला कल। इसलिए अश्वत्थ का मतलब है आगामी कल तक न टिकने वाला क्षणिक संसार। संसार का प्रतिक्षण रूपांतर हुआ करता है इससे वह अश्वत्थ है। परन्तु ऐसी स्थिति में वह सदा रहने वाला होने के कारण तथा उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है, इस कारण वह अविनाशी है। उसमें यदि वेद अर्थात् धर्म के शुद्ध ज्ञानरूपी पत्ते न

हो तो वह शोभा नहीं दे सकता। इस प्रकार संसार का यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्म को जानने वाला है वह ज्ञानी है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

गुणों के स्पर्श द्वारा बढ़ी हुई और विषय रूपी कोंपलों वाली उस अश्वत्थ की डालियाँ नीचे-ऊपर फैली हुई हैं कर्मों का बंधन करने वाली उसकी जड़ें मनुष्यलोक में नीचे फैली हुई हैं।

टिप्पणी—यह संसार वृक्ष का अज्ञानी की दृष्टि वाला वर्णन है। उसके ऊँचे ईश्वर में रहने वाले मूल को वह नहीं देखता, बल्कि विषयों की रमणीयता पर मुग्ध रहकर, तीनों गुणों द्वारा इस वृक्ष का पोषण करता है और मनुष्य लोक में कर्म पाश में बँधा हुआ रहता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
त्वमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

उसका यथार्थ स्वरूप देखने में नहीं आता। उसका अन्त नहीं है, आदि नहीं है, नींव नहीं है। खूब गहराई तक गई हुई जड़ों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को असंगरूपी बलवान शस्त्र से काट कर मनुष्य यह प्रार्थना करेः—'जिसने सनातन प्रवृत्ति—माया—को फैलाया है उस आदि पुरुष के मैं शरण जाता हूँ।' और उस पद को खोजे जिसे पाने वाले को पुनः जन्म-मरण के फेर में पड़ना नहीं पड़ता। ३–४

टिप्पणी—असंग से मतलब है असहयोग, वैराग्य। जबतक मनुष्य विषयों स असहयोग न करे, उनके प्रलोभनों से दूर न रहे तबतक वह उनमें फँसता ही रहेगा। इस श्लोक का आशय यह है कि विषयों के साथ खेल खेलना और उनसे अछूते रहना यह अनहोनी बात है।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिसने मान-मोहका त्याग किया है, जिसने आसक्ति से होनेवाले दोषों को दूर किया है, जो आत्मा में नित्य निमग्न है, जिसके विषय शांत हो गये हैं, जो सुख-दुःख रूपी द्वंद्वों से मुक्त है वह ज्ञानी अविनाशी पद को पाता है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

वहां सूर्य को, चन्द्र को या अग्नि को प्रकाश नहीं देना पड़ता। जहां जानेवालेको फिर जन्मना नहीं पड़ता वह मेरा परम धाम है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मेरा ही सनातन अंश जीव-लोक में जीव होकर प्रकृति में रहनेवाली पाँच इंद्रियों को और मन को आकर्षित करता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

(जीव बना हुआ यह मेरा अंशरूपी) ईश्वर जब शरीर धारण करता है या छोड़ता है तब यह उसी तरह (मन के साथ इन्द्रियों को) साथ ले जाता है जैसे वायु आस-पास के मंडल में से गंध ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

और वह कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है।

टिप्पणी—यहाँ 'विषय' शब्द का अर्थ बीभत्स विलास नहीं है, बल्कि प्रत्येक इंद्रिय की स्वाभाविक क्रिया है; जैसे आँखका विषय है देखना, कान का सुनना, जीभ का चखना। ये क्रियाएं जब विकारवाली, अहंभाववाली होती हैं तब दूषित—बीभत्स ठहरती हैं। जब निर्विकार होती हैं तब वे निर्दोष हैं। बच्चा आँख से देखता या हाथ से छूता हुआ विकार नहीं पाता, इसलिए नीचे के श्लोक में कहते हैं।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

(शरीरका) त्याग करनेवाले या उसमें रहनेवाले अथवा गुणों का आश्रय लेकर भोग भोगनेवाले (इस अंशरूपी ईश्वर) को, मूर्ख नहीं देखते किंतु दिव्यचक्षु ज्ञानी देखते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यत्न करते हुए योगीजन अपनेमें स्थित (इस ईश्वर) को देखते हैं। जिन्होंने आत्म-शुद्धि नहीं की है ऐसे मूढ़जन यत्न करते हुए भी इसे नहीं पहचानते।

टिप्पणी—इसमें और नवें अध्याय में दुराचारीको भगवान् ने जो वचन दिया है उसमें विरोध नहीं है। अकृतात्मा से तात्पर्य है भक्तिहीन; स्वेच्छाचारी, दुराचारी जो नम्रता पूर्वक श्रद्धासे ईश्वर को भजता है वह आत्म-शुद्ध हो जाता है और ईश्वर को पहचानता है। जो यम-नियमादि की परवाह न कर केवल बुद्धि-प्रयोग से ईश्वर को पहचानना चाहते हैं, वे अचेता—चित्त से रहित, राम से रहित, राम को नहीं पहचान सकते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सूर्यमें विद्यमान जो तेज समूचे जगत् को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्र में तथा अग्नि में विद्यमान है, वह मेरा है, ऐसा जान।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्ति से मैं प्राणियों को धारण करता हूँ, और रसों को उत्पन्न करनेवाला चन्द्र बनकर समस्त वनस्पतियों का पोषण करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

प्राणियों के शरीर का आश्रय लेकर जठराग्नि होकर प्राण और अपान वायु द्वारा मैं चार प्रकार का अन्न पचाता हूँ ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सबके हृदयों में अधिष्ठित मेरे द्वारा स्मृति, ज्ञान और उनका अभाव होता है । समस्त वेदोंद्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ, वेदांत-का प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूं ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक में क्षर अर्थात नाशवान् और अक्षर अर्थात् अविनाशी दो पुरुष हैं । भूत-मात्र क्षर हैं और उनमें जो स्थिर रहनेवाला अंतर्यामी है वह अक्षर कहलाता है ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इसके सिवा उत्तम पुरुष और है । वह परमात्मा कहलाता है । यह अव्यय ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उनका पोषण करता है ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं क्षर से पर और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिए वेदों और लोकों में पुरुषोत्तम नाम से प्रख्यात हूँ।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्व भावेन भारत ॥१९॥

हे भारत ! मोह रहित होकर मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जो जानता है वह सब जानता है और मुझे पूर्णभाव से भजता है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे अनघ ! यह गुह्य-से-गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा। इसे जानकर मनुष्य को चाहिए कि वह बुद्धिमान बने और अपना जीवन सफल करे ।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद् गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतगत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'पुरुषोत्तम-योग' नामक पंद्रहवाँ अध्याय ।

गीता-बोध

पंद्रहवाँ अध्याय

२१-१-३२

रात को

श्री भगवान् बोले : इस संसार को दो तरह से देखा जा सकता है—एक इस तरह जिसकी जड़ ऊपर है, जिसकी शाखा नीचे है, और जिसके वेद रूपी पत्ते हैं; ऐसे पीपल के रूप में जो संसार को देखता है वह वेद को जानने वाला ज्ञानी है। दूसरी रीति यह है : संसाररूपी वृक्ष की शाखाएँ ऊपर-नीचे फैली हुई हैं; उसके तीन गुणों से बढ़े हुए विषय रूपी अंकुर हैं, और वे विषय जीव को मनुष्य-लोक में कर्म के बंधन में डालते हैं। इस वृक्ष का स्वरूप नहीं जाना जा सकता, उसका आरम्भ नहीं है, न अन्त है, न कोई ठिकाना।

यह दूसरे प्रकार का संसार-वृक्ष है। उसने यद्यपि जड़ गहरी पकड़ी है, तथापि उसे असहकार रूपी शस्त्र से काटना चाहिए, कि जिससे आत्मा को वह लोक प्राप्त हो सके जहाँ से उसे वापस चक्कर न करना पड़े। ऐसा करने के लिए वह निरंतर उस आदि पुरुष को भजे, कि जिसकी माया से यह पुरानी प्रवृत्ति पसरी हुई है। जिन्होंने मान-मोह को छोड़ दिया है, जिन्होंने संग-दोष को जीत लिया, जो आत्मा में लीन है, जो विषयों से अलग हो गए हैं, जिन्हें सुख-दुःख समान है अह ज्ञानी उस अव्यय पद को पाते हैं।

इस जगह सूर्य को या चन्द्र को या अग्नि को तेज पहुँचाने की जरूरत नहीं पड़ती। जहाँ जाने के बाद लौटना नहीं रह जाता, वह मेरा परम धाम है।

जीव-लोक में मेरा सनातन अंश जीवरूप में प्रकृति में विद्यमान मन-सहित छः इंद्रियों को आकर्षित करता है। जब जीव देह धारण करता है और तजता है तब जैसे वायु अपने स्थल से गंधों को साथ लिये चलता है; यह जीव भी इन्द्रियों को साथ लिये हुए विचरता है। कान, आँख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मन इतनों का सहारा लेकर जीव विषयों का सेवन करता है। गति करते हुए, स्थिर रहते हुए या भोग भोगते हुए गुणों वाले इस जीव को मोह में पड़े हुए अज्ञानी पहचानते नहीं ज्ञानी पहचानते हैं। यत्न करने वाले योगी अपने में विद्यमान इस जीव को पहचानते हैं। पर जिसने समभावरूपी योग को नहीं साधा है वह यत्न करता हुआ भी उसे पहचानता नहीं है।

सूर्य का जो तेज जगत् को प्रकाशित करता है, जो चंद्रमा में है। जो अग्नि में है, उन सारे तेजों को मेरा तेज जान। अपनी शक्ति द्वारा शरीर में प्रवेश करके मैं जीवों को धारण करता हूँ। रस उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर ओषधि-मात्र का पोषण करता हू। प्राणियों की देह में रह करके जठराग्नि बनकर, प्राण, अपान, वायु को समान करके, चार प्रकार का अन्न पचाता हूँ। सबके हृदय के भीतर विद्यमान हूँ। मेरे द्वारा ही स्मृति है, ज्ञान है, उसका अभाव है, सब वेदों के द्वारा जानने योग्य जो है वह मैं हूँ। वेदांत भी मैं हूँ, वेद को जाननेवाला भी मैं हूँ।

इस लोक में कहा जाता है कि दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर अथवा नाशवान और नाश-रहित। इनमें जीव क्षर कहलाते हैं,

उनमें स्थिर हुआ मैं अक्षर हूँ, और उससे भी परे जो उत्तम पुरुष है वह परमात्मा कहलाता है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोक में प्रवेश करके उसका पालन करता है वह भी मैं हूँ, इससे मैं क्षर और अक्षर से भी उत्तम हूँ, और लोक में, वेद में पुरुषोत्तम रूप से प्रसिद्ध हूँ। इस प्रकार जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तम रूप से पहचानता है वह सब जानता है, और अपने ध्येय को पहुँचता है।

• १६ •

दैवासुर-संपद्-विभाग योग

इस अध्याय में दैवी और आसुरी संपद् का वर्णन है।

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

श्री भगवान् बोले—

हे भारत! अभय, अंतःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, भूत-दया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमान —इतने गुण उसमें होते हैं जो दैवी संपद् लेकर जन्मा है।

टिप्पणी—दम अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह, अपैशुन अर्थात् किसी की चुगली न खाना, अलोलुपता अर्थात् प्रत्येक प्रकार की हीन

वृत्ति का विरोध करने का जोश, अद्रोह अर्थात किसी का बुरा न चाहना या करना।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, हे पार्थ! इतने आसुरी संपत लेकर जन्मने वालों में होते हैं।

टिप्पणी—जो अपने में नहीं है वह दिखाना दंभ है, ढोंग है, पाखण्ड है। दर्प यानी बड़ाई, पारुष्य का अर्थ है कठोरता।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी संपत् मोक्ष देने वाली और आसुरी (संपत्) बंधन में डालने वाली मानी गई है। हे पांडव! तू विषाद मत कर। तू दैवी संपत् लेकर जन्मा है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

इस लोक में दो प्रकार की सृष्टि है—दैवी और आसुरी। हे पार्थ! दैवी का विस्तार से वर्णन किया गया। आसुरी का (अब) सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुर लोग यह नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या है, निवृत्ति क्या है। वैसे ही उन्हें शौच का, आचार का और सत्य का भान नहीं है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं, जगत् असत्य निराधार और ईश्वर-रहित है। केवल नर-मादा के संबंध से हुआ है। उसमें विषय-भोग के सिवा और क्या हेतु हो सकता है ?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

भयंकर काम करने वाले, मंदमति, दुष्टगण इस अभिप्राय को पकड़े हुए जगत् के शत्रु; उसके नाश के लिए उत्पन्न होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

तृप्त न होने वाली कामनाओं से भरपूर, दंभी, मानी, मदांध, अशुभ निश्चय वाले मोह से दुष्ट इच्छाएँ ग्रहण करके प्रवृत्त होते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोध परायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

प्रलयपर्यन्त अन्त ही न होने वाली ऐसी अपरिमित चिन्ता का आश्रय लेकर, कामों के परमभोगी, 'भोग ही सर्वस्व है', ऐसा निश्चय करने वाले, सैकड़ों आशाओं के जाल में फँसे हुए कामी क्रोधी, विषय-भोग के लिए अन्याय पूर्वक धन-संचय की चाह रखते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

आज मैंने यह पाया, यह मनोरथ (अब)पूरा करूँगा; इतना धन मेरे पास है, फिर कल इतना और मेरा हो जायगा, इस शत्रु को तो मारा, दूसरे को भी मारूँगा; मैं सर्व-सम्पन्न हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, मैं श्रीमान हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा;—अज्ञान से मूढ़ हुए लोग ऐसा मानते हैं और अनेक भ्रान्तियों में पड़े, मोह-जाल में फंसे, विषय-भोग में मस्त हुए अशुभ नरक में गिरते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विता ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने को बड़ा मानने वाले, अकड़बाज, धन तथा मान के मद में मस्त हुए (यह लोग) दंभ से और विधि-रहित नाम-मात्र के ही यज्ञ करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध का आश्रय लेने वाले निंदा करने वाले और उनमें तथा दूसरों में रहने वाला जो मैं, उसका वे द्वेष करने वाले हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभामासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

इन नीच, द्वेषी, क्रूर अमंगल नराधमों को मैं इस संसार की अत्यंत आसुरी योनि में ही बारंबार डालता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि-जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौन्तेय ! जन्म-जन्म आसुरी योनि को पाकर और मुझे न पाने से ये मूढ़ लोग इस से भी अधिक अधम गति पाते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदम् द्वारं नाशमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

आत्मा का नाश करने वाले नरक के ये त्रिविध द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए इन तीन का मनुष्य को त्याग करना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कौन्तेय ! इस त्रिविध नरक-द्वार से दूर रहने वाला मनुष्य आत्मा के कल्याण का आचरण करता है और इससे परम गति को पाता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो मनुष्य शास्त्र-विधि को छोड़कर स्वेच्छा से भोगों में लीन होता है वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है, न परम गति को पाता है।

टिप्पणी—शास्त्र-विधि का अर्थ धर्म के नाम से माने जाने वाले ग्रन्थों में बतलाई हुई अनेक क्रियाएं नहीं, बल्कि अनुभव-ज्ञान वाले सत्पुरुषों का अनुभव किया हुआ संयम-मार्ग है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिए कार्य और अकार्य का निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्र-विधि क्या है यह जानकर यहाँ तुझे कर्म करना उचित है।

टिप्पणी—जो ऊपर बतलाया जा चुका है, शास्त्र का वह अर्थ यहाँ भी है। सबको निज-निज के नियम बनाकर स्वेच्छाचारी न बनना चाहिए, बल्कि धर्म के अनुभवी के वाक्य को प्रमाण मानना चाहिए, यह इस श्लोक का आशय है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग शास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'दैवासुर-सम्पद्-विभाग योग' नामक सोलहवाँ अध्याय।

गीता-बोध

सोलहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर
७-२-३०

श्री भगवान् कहते हैं : अब मैं तुझे धर्म-वृत्ति और अधर्म-वृत्ति का भेद बतलाता हूँ। धर्म-वृत्ति के बारे में तो मैं पहले बहुत कह गया हूँ, तो भी उसके लक्षण कह जाता हूँ। जिसमें धर्म-वृत्ति होती है उसमें निर्भयता, अंतःकरण-शुद्धि, ज्ञान, समता इंद्रिय-दमन, दान, यज्ञ, शास्त्रों का अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति; किसी की चुगली न खाना अर्थात अपैशुनता, भूत-मात्र के प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धीरज, अंदर और बाहर की स्वच्छता, अद्रोह और निरभिमानता होती है।

अधर्म-वृत्ति वाले में दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान देखने में आता है।

धर्म-वृत्ति मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती है। अधर्म-वृत्ति बंधन में डालती है। हे अर्जुन, तू तो धर्म-वृत्ति लेकर ही जन्मा है।

अधर्म-वृत्ति का थोड़ा विस्तार कह देता हूँ कि जिससे उसका त्याग सहज में लोग कर सकें।

अधर्म-वृत्ति वाला प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद नहीं जानता है, उसे शुद्ध-अशुद्ध का या सत्यासत्य का भान नहीं होता, तो

फिर उसके बरताव का तो ठिकाना ही कहाँ से होगा ? उसका मन-जगत् झूठा, निराधार है, जगत् का कोई नियंता नहीं है, स्त्री-पुरुष का संबंध ही उसका जगत् है, अतः इसमें विषय-भोग के सिवा दूसरा विचार नहीं मिलता।

ऐसी वृत्तिवालों के कार्य भयानक होते हैं, उनकी मति मंद होती है, ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारों को पकड़े रहते हैं, और जगत् के नाश के लिए ही उनको सब प्रवृत्तियाँ होती हैं। उनकी कामनाओं का अंत ही नहीं आता। वे दंभ, मान, मद में भूले रहते हैं। उनकी चिंता का भी पार नहीं होता। उन्हें नित्य नये भोग चाहिएं। सैकड़ों आशाओं के महल चुनते रहते हैं, और अपनी कामना के पोषण के लिए द्रव्य एकत्र करने में न्याय-अन्याय का भेद बिलकुल छोड़ देते हैं।

'आज यह पाया और कल वह और प्राप्त करूँगा, इस शत्रु को आज मारा फिर दूसरे को मारूँगा, मैं बलवान हूँ, मेरे पास ऋषि-सिद्धि हैं, मेरे समान दूसरा कौन है, कीर्ति-प्राप्ति के लिए यज्ञ करूँगा, दान दूंगा और चैन की बंशी बजाऊँगा', यों मन-ही-मन मानता हुआ वह खुश होता रहता है, और अंत में मोह-जाल में फँसकर नरक-वास पाता है।

ये आसुरी वृत्तिवाले प्राणी अपने घमंड में भूले रहकर पर-निंदा करते हुए सर्वव्यापक ईश्वर का द्वेष करते हैं, और इससे वह वारंबार आसुरी योनि में जन्मते हैं।

नरक के, आत्मा को नाश करने वाले, ये तीन दरवाजे हैं—काम, क्रोध और लोभ। सबको इन तीनों का त्याग करना चाहिए, उनका त्याग करने वाले कल्याण-मार्ग के पथिक होते हैं, और वे परमगति को पाते हैं।

जो अनादि सिद्धांतरूपी शास्त्रों का त्याग करके स्वेच्छा से भोग में पड़े रहते हैं, वे न सुख पाते हैं, और न कल्याण-मार्ग में रहकर शांति पाते हैं। इससे कार्य-अकार्य का निर्णय करने में अनुभवियों से अचल सिद्धांत जान लेने चाहिएँ, और उनका अनुसरण करके आचार-विचार का निश्चय करना चाहिए।

◆ १७ ◆

श्रद्धात्रय-विभाग योग

शास्त्र अर्थात् शिष्टाचार को प्रमाण मानना चाहिए, यह सुनकर अर्जुन को शंका हुई कि जो शिष्टाचार को न मान सके पर श्रद्धापूर्वक आचरण करे उसकी कैसी गति होती है। इस अध्याय में इसका उत्तर देने का प्रयत्न है। परन्तु शिष्टाचार-रूपी दीप-स्तंभ छोड़ देने के बाद की श्रद्धा में भयों की संभावना बतलाकर भगवान् ने संतोष माना है। इसलिए श्रद्धा और उसके आधार पर होने वाले यज्ञ, तप, दान आदि के गुणानुसार तीन भाग करके दिखाये हैं और 'ॐ तत्सत्' की महिमा गाई है।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण! शास्त्र-विधि अर्थात् शिष्टाचार की परवा न कर जो केवल श्रद्धा से ही पूजादि करते हैं उनकी गति कैसी होती है?—सात्त्विक, राजसी या तामसी?

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—

मनुष्य में स्वभाव से ही तीन प्रकार की श्रद्धा अर्थात् सात्त्विकी राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे भारत! सबकी श्रद्धा अपने स्वभाव का अनुसरण करती है। मनुष्य में कुछ-न-कुछ श्रद्धा तो होती ही है। जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह होता है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक लोग देवताओं को भजते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसों को भजते हैं और दूसरे तामस लोग भूत-प्रेतादिकों भजते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

दंभ और अहंकार वाले, काम और राग के बल से प्रेरित जो लोग शास्त्रीय विधि से रहित घोर तप करते हैं, वे मूढ़ लोग

शरीर में स्थित पंच महाभूतों को और अंतःकरण में विद्यमान मुझको भी कष्ट देते हैं। ऐसों को आसुरी-निश्चय वाला जान।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

आहार भी तीन प्रकार से प्रिय होता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान (भी तीन प्रकार से प्रिय होता) है। उसका यह भेद तू सुन।

आयुःसत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याःस्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः॥८॥

आयुष्य, सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ानेवाले, रसदार, चिकने, पौष्टिक और मन को रुचिकर आहार सात्विक लोगों को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे, दाहकारक आहार राजस लोगों को प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

पहर-भर से पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गंधित, बासी, जूठा, अपवित्र भोजन तामस लोगों को प्रिय होता है।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

जिसमें फल की इच्छा नहीं है, जो विधिपूर्वक कर्तव्य समझकर; मन को उसमें पिरोकर होता है वह यज्ञ सात्त्विक है।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ! जो फल के उद्देश्य से और दंभ से होता है उस यज्ञ को राजसी जान।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

जिसमें विधि नहीं है, अन्न की उत्पत्ति नहीं है, मंत्र नहीं है, त्याग नहीं है श्रद्धा नहीं है उस यज्ञ को बुद्धिमान् लोग तामस यज्ञ कहते हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

दुःख न देने वाला, सत्य, प्रिय, हितकर वचन तथा धर्म-ग्रन्थों का अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्म-संयम, भावना-शुद्धि यह मानसिक तप कहलाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

समभावयुक्त पुरुष जब फलेच्छा का त्याग करके परम श्रद्धा-पूर्वक यह तीन प्रकार का तप करते हैं तब उसे बुद्धिमान लोग सात्त्विक तप कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

जो सत्कार, मान और पूजा के लिए दंभपूर्वक होता है वह अस्थिर और अनिश्चित तप, राजस कहलाता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप कष्ट उठाकर, दुराग्रह पूर्वक अथवा दूसरे के नाश के लिए होता है वह तामस तप कहलाता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

देना उचित है ऐसा समझकर, बदला मिलने की आशा के बिना, देश, काल और पात्र को देखकर जो दान होता है उसे सात्त्विक दान कहा है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान बदला मिलने के लिए अथवा फल को लक्ष्य करके और दुःख के साथ दिया जाता है वह राजसी दान कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

देश, काल और पात्र का विचार किये बिना, बिना मान के, तिरस्कार से दिया हुआ दान, तामसी कहलाता है।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ब्रह्म का वर्णन 'ॐ तत् सत्' इस तरह तीन प्रकार से हुआ है और इसके द्वारा पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिए ब्रह्मवादी 'ॐ' का उच्चारण करके यज्ञ, दान और तप रूपी क्रियाएँ सदा विधिवत् करते हैं।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

और मोक्षार्थी 'तत्' का उच्चारण करके फल की आशा रखे बिना यज्ञ, तप और दानरूपी विविध क्रियाएँ करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

सत्य और कल्याण के अर्थ में 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है। और हे पार्थ ! भले कामों में भी 'सत्' शब्द व्यवहृत होता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, तप और दान में दृढ़ता को भी सत कहते हैं। तत् के निमित्त ही कर्म है, ऐसा संकल्प भी सत् कहलाता है।

टिप्पणी—उपरोक्त तीन श्लोकों का भावार्थ यह हुआ कि प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण करके ही करना चाहिए, क्योंकि ॐ ही सत् है, सत्य है। उसे अर्पण किया हुआ ही फलता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ ! जो यज्ञ, दान, तप या दूसरा कार्य बिना श्रद्धा के होता है वह असत् कहलाता है। वह न तो यहाँ के काम का है, न परलोक के।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योग शास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'श्रद्धात्रय-विभाग योग' नामक सत्रहवाँ अध्याय।

गी ता-बो ध

सत्रहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर

१४-२-३२

अर्जुन पूछता है : जो शिष्टाचार छोड़कर भी श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं, उनकी गति कैसी होती है ?

भगवान् उत्तर देते हैं : श्रद्धा तीन प्रकार की होती है— सात्त्विकी, राजसी, तामसी। श्रद्धा के अनुसार मनुष्य होता है।

सात्त्विक मनुष्य ईश्वर को, राजस यक्ष-राक्षसों को और तामस भूत-प्रेतों को भजता है।

पर किसकी श्रद्धा कैसी है यह एकाएक नहीं जाना जा सकता। उसका आहार कैसा है, उसका तप कैसा है, यज्ञ कैसा है, दान कैसा है, यह जानना चाहिए। और उन सबके भी तीन-तीन प्रकार हैं जो तुझे बतलाता हूँ।

जिस आहार से आयु, निर्मलता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ती है वह आहार सात्त्विक कहलाता है। जो तीखा, खट्टा, चरपरा और गरम होता है वह राजस है। उससे दुःख और रोग उत्पन्न होते हैं। जो रींधा हुआ आहार बासी हो, बदबू करता हो, जूठा हो, और अन्य प्रकार से अपवित्र हो, उसे तामस जानना।

जिस यज्ञ के करने में फल की इच्छा नहीं है, जो कर्तव्य रूप से तन्मयता से होता है वह सात्त्विक माना जाता है। जिसमें फल की आशा है और दंभ भी है, उसे राजस यज्ञ जानना। जिसमें कोई विधि नहीं है, न कुछ उपज है, न कोई मन्त्र है, न कोई त्याग है वह यज्ञ तामस है।

जिसमें सन्तों की पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य है, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्म-ग्रंथ का अभ्यास वाचिक तप है, मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, संयम, शुद्ध भावना, यह मानसिक तप कहलाता है। जो तप मान की आशा से, दंभपूर्वक किया जाता है उसे राजस जानना और जो तप पीड़ित होकर और दुराग्रह से या दूसरे के नाश के लिए किया जाय, जिसमें शरीरस्थ आत्मा को क्लेश हो, वह तप तामस है।

कर्तव्य-बुद्धि से दिया गया, बिना फलेच्छा के देश, काल, पात्र देखकर दिया गया दान सात्त्विक है। जिसमें बदले की आशा है और जिसे देते हुए संकोच होता है वह राजस है। देश-कालादि का विचार किये बिना, तिरस्कृत भाव से या मान बिना दिया हुआ दान तामस है।

वेदों ने ब्रह्म का वर्णन ॐ तत्सत् रूप से किया है, अतः श्रद्धालु को चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म। तत् अर्थात् वह। सत् अर्थात् सत्य, कल्याणरूप। मतलब कि ईश्वर एक है, वही है, वही सत्य है, वही कल्याण करने वाला है। ऐसी भावना रखकर और ईश्वरार्पण बुद्धि से जो यज्ञादि करते हैं उनकी श्रद्धा सात्त्विक है, और वह शिष्टाचार को न जानने के कारण से अथवा जानते

हुए भी, ईश्वरार्पण बुद्धि से उससे कुछ भिन्न करते हैं, तथापि वह दोष रहित है।

पर जो क्रिया ईश्वरार्पण बुद्धि के बिना होती है वह बिना श्रद्धा की मानी जाती है। वह असत् है।

◆

◆ १८ ◆

संन्यास योग

इस अध्याय को उपसंहाररूप मानना चाहिए। इस अध्याय का या गीता का प्रेरक मन्त्र यह कहा जा सकता है—'सब धर्मों को तजकर मेरी शरण ले।' यह सच्चा संन्यास है। परंतु सब धर्मों के त्याग का मतलब सब कर्मों का त्याग नहीं है। परोपकार के कर्मों से भी जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हों उन्हें उसे अर्पण करना और फलेच्छा का त्याग करना, यह सर्वधर्म-त्याग या संन्यास है।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! संन्यास और त्याग का पृथक्-पृथक् रहस्य जानना चाहता हूँ।

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

श्री भगवान् बोले—

काम्य (कामना से उत्पन्न हुए) कर्मों के त्याग को ज्ञानी संन्यास के नाम से जानते हैं। समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कितने ही विचारवान् पुरुष कहते हैं कि कर्म-मात्र दोषमय होने के कारण त्यागने योग्य हैं; दूसरों का कथन है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरत सत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे भरत सत्तम ! इस त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग तीन प्रकार से वर्णन किया गया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं हैं वरन् करने योग्य हैं। यज्ञ, दान और तप विवेकी को पावन करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके करने चाहिएं, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम अभिप्राय है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है। मोह के वश होकर उसका त्याग किया जाय तो वह त्याग तामस माना जाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

दुःखकारक समझकर कायाकष्ट के भय से जो कर्म का त्याग करता है वह राजस त्याग है और इससे उस त्याग का फल नहीं मिलता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन! करना चाहिए, ऐसा समझकर जो नियत कर्म संग और फल को त्यागकर किया जाता है वह त्याग ही सात्त्विक माना गया है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

संशय रहित हुआ, शुद्धभावना वाला, त्यागी और बुद्धिमान् असुविधाजनक कर्म का द्वेष नहीं करता, सुविधा वाले में लीन नहीं होता।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

कर्म का सर्वथा त्याग देहधारी के लिए संभव नहीं है। परन्तु जो कर्म का फल-त्याग करता है वह त्यागी कहलाता है!

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

त्याग न करने वाले के कर्म का फल कालांतर में तीन प्रकार का होता है, अशुभ, शुभ और शुभाशुभ। जो त्यागी (संन्यासी) है उसे कभी नहीं होता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो ! कर्म-मात्र की सिद्धि के विषय में सांख्यशास्त्र में पाँच कारण कहे गये हैं। वे मुझसे जान।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

वे पाँच ये हैं: क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाएं और पाँचवाँ दैव।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीर, वाचा अथवा मन से जो कोई भी कर्म मनुष्य नीति-सम्मत या नीति-विरुद्ध करता है उसके ये पाँच कारण होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसा होने पर भी, असंस्कारी बुद्धि के कारण जो अपने को ही कर्ता मानता है वह दुर्मति कुछ समझता नहीं है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसमें अहंकार भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इस जगत् को मारते हुए भी नहीं मारता, न बंधन में पड़ता है।

टिप्पणी—ऊपर-ऊपर से पढ़ने से यह श्लोक मनुष्य को भुलावे में डालनेवाला है। गीता के अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्श का अवलंबन करनेवाले हैं। उसका सच्चा नमूना जगत् में नहीं मिल सकता और उपयोग के लिए भी जिस तरह रेखागणित में काल्पनिक आदर्श-आकृतियों की आवश्यकता है उसी तरह धर्म-व्यवहार के लिए है। इसलिए इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है:—जिसकी अहंता नष्ट हो गई है और जिसकी बुद्धि में लेश-मात्र भी मैल नहीं है, उसके लिए कह सकते हैं कि वह भले ही सारे जगत् को मार डाले। परंतु जिसमें अहंता नहीं है उसे शरीर ही नहीं है। जिसकी बुद्धि विशुद्ध है वह त्रिकालदर्शी है। ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान् है। वह करते हुए भी अकर्ता है; मारते हुए भी अहिंसक है। इससे मनुष्य के सामने तो एक न मारने का और शिष्टाचार—शास्त्र—का ही मार्ग है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कर्म की प्रेरणा में तीन तत्त्व विद्यमान हैं:—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। कर्म के अंग तीन प्रकार के होते हैं:—इंद्रियाँ, क्रिया और कर्ता।

टिप्पणी—इसमें विचार और आचार का समीकरण है। पहले मनुष्य कर्तव्य कर्म (ज्ञेय), उसकी विधि (ज्ञान) को जानता

है—परिज्ञाता बनता है। इस कर्म-प्रेरणा के प्रकार के बाद वह इंद्रियों (करण) द्वारा क्रिया का कर्ता बनता है। यह कर्म-संग्रह है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१६॥

ज्ञान, कर्म और कर्ता गुण-भेद के अनुसार तीन प्रकार के हैं। गुण-गणना में उनका जैसा वर्णन किया जाता है वैसा सुन।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भूतों में एक ही अविनाशी भाव को और विविधता में एकता को देखता है उसे सात्त्विक ज्ञान जान।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

भिन्न-भिन्न (देखने में) होने के कारण समस्त भूतों में जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न विभक्त भावों को देखता है उस ज्ञान को राजस जान।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जिसके द्वारा एक ही कार्य में बिना किसी कारण के सब आ जाने का भास होता है, जो रहस्य-रहित और तुच्छ है वह तामस ज्ञान कहलाता है।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

फलेच्छा-रहित पुरुष का आसक्ति और राग-द्वेष के बिना किया हुआ नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है।

टिप्पणी—देखो, टिप्पणी ३-८

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

भोग की इच्छा रखने वाले जिस कार्य को 'मैं करता हूँ', इस भाव से बड़े आयासपूर्वक करते हैं वह राजस कहलाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

मनुष्य जो काम परिणाम का, हानि का, हिंसा का और अपनी शक्ति का विचार किये बिना मोह के वश होकर आरम्भ करता है वह तामस कर्म कहलाता है।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥२६॥

जो आसक्ति और अहंकार-रहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलता में हर्ष-शोक नहीं करता वह सात्त्विक कर्ता कहलाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो रागी है, जो कर्म-फल की इच्छा वाला है, लोभी है; हिंसावान है, मलिन, हर्ष और शोकवाला है, वह राजस कर्ता कहलाता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, झक्की, शठ, नीच, आलसी, अप्रसन्न-चित्त और दीर्घसूत्री है, वह तामस कर्ता कहलाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

हे धनंजय! बुद्धि और धृति के गुण के अनुसार पूरे और पृथक्-पृथक् तीन प्रकार कहता हूँ, उन्हें सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्ध, मोक्ष का भेद जो बुद्धि (उचित रीति से) जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य का विवेक गलत ढंग से करती है, वह बुद्धि, हे पार्थ! राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि अंधकार से घिरी हुई है, अधर्म को धर्म मानती है और सब बातें उलटी ही देखती है वह तामसी है ।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेन व्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ ! जिस एकनिष्ठ धृति से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को साम्य बुद्धि से धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पार्थ ! जिस धृति से मनष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम और अर्थ को आसक्ति पूवक धारण करता ह वह धृति राजसी है ।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, निराशा और मद को छोड़ नहीं सकता, हे पार्थ ! यह तामसी धृति है ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

हे भरतर्षभ तीन प्रकार के सुख का वर्णन मुझसे सुन। जिसके अभ्यास से मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःख का अन्त होता है, जो आरम्भ में विष समान लगता है, परिणाम में अमृत जैसा होता है, जो आत्म-ज्ञान की प्रसन्नता में से उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो आरम्भ में अमृत-समान लगता है पर परिणाम में विष-समान होता है, वह सुख राजस कहा गया है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो आरम्भ में और परिणाम में आत्मा को मोहग्रस्त करने वाला और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद में से उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वी में या देवताओं के मध्य स्वर्ग में ऐसा कुछ भी नहीं है जो प्रकृति में उत्पन्न हुए इन तीन गुणों से मुक्त हो।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों के भी उनके स्वभावजन्य गुणों के कारण विभाग हो गये हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वभावजन्य कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान, शासन—ये क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म हैं ।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं। और शूद्र का स्वभावजन्य कर्म सेवा है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

स्वयं अपने कर्म में रत रहकर पुरुष मोक्ष पाता है। अपने कर्म में रत हुआ मनुष्य किस प्रकार मोक्ष पाता है, सो सुन।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिसके द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा यह सारे-का-सारा व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्म-द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

परधर्म सुकर होनेपर भी उससे विगुण स्वधर्म अधिक अच्छा है। स्वभाव के अनुरूप कर्म करनेवाले मनुष्य को पाप नहीं लगता।

टिप्पणी—स्वधर्म अर्थात अपना कर्तव्य। गीता की शिक्षा का मध्य बिंदु कर्म-फल-त्याग है। और स्वकर्म की अपेक्षा अधिक उत्तम। कर्तव्य खोजने पर फल-त्याग के लिए स्थान नहीं रहता, इसलिए स्वधर्म को श्रेष्ठ कहा है। सब धर्मों का फल उसके पालन में आजाता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

हे कौंतेय ! स्वभावतः प्राप्त कर्म, सदोष होने पर भी छोड़ना न चाहिए, जिस प्रकार अग्नि के साथ धुएं का संयोग है उसी प्रकार सब कर्मों के साथ दोष मौजूद है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

जिसने सब कहीं से आसक्ति को खींच लिया है, जिसने कामनाओं को त्याग दिया है, जिसने मन को जीत लिया है, वह संन्यास द्वारा निष्कामतारूपी परम सिद्धि पाता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कौंतेय! सिद्धि प्राप्त होने पर मनुष्य ब्रह्म को किस प्रकार पाता है, सो मुझसे संक्षेप में सुन। ज्ञान की पराकाष्ठा वही है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, ऐसा योगी दृढ़तापूर्वक अपने को वश में करके, शब्दादि विषयों का त्याग कर, राग-द्वेष को जीतकर, एकांत-सेवन करके, अल्पहार करके, वाचा, काया और मन को अंकुश में रखकर, ध्यान योग में नित्य परायण रहकर, वैराग्य का आश्रय लेकर, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्यागकर, ममता-रहित और शांत होकर ब्रह्मभाव को पाने योग्य बनता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है; भूत-मात्र में समभाव रखकर मेरी परम भक्ति को पाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

मैं कैसा और कौन हूँ इसे भक्ति द्वारा वह यथार्थ जानता है और इस प्रकार मुझे यथार्थ जानकर मुझमें प्रवेश करता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

मेरा आश्रय ग्रहण करने वाला सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत, अव्ययपद को पाता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मन से सब कर्मों को मुझ में अर्पण करके, मुझमें परायण होकर, विवेक-बुद्धि का आश्रय लेकर निरंतर मुझमें चित्त लगा।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

मुझमें चित्त लगाने पर कठिनाइयों के समस्त पहाड़ को मेरी कृपा से पार कर जायगा, किंतु यदि अहंकार के वश होकर मेरी न सुनेगा तो नाश हो जायगा।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अहंकार के वश होकर 'मैं युद्ध न करूँगा' ऐसा तू मानता हो तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है। तेरा स्वभाव ही तुझे उस तरफ घसीट ले जायगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कौंतेय! अपने स्वभावजन्य कर्म से बद्ध होने के कारण तू जो मोह के वश होकर नहीं करना चाहता वह बरबस करेगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है और अपनी माया के बल से उन्हें चाक पर चढ़े हुए घड़े की तरह घुमाता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत! सर्वभाव से तू उसकी शरण ले। उसकी कृपा से परम शांतिमय अमर पद को पायगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार गुह्य-से-गुह्य ज्ञान मैंने तुझसे कहा। इस सारे का भली-भाँति विचार करके तुझे जो अच्छा लगे सो कर।

सर्वं गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

और सबसे भी गुह्य ऐसा मेरा परम वचन सुन । तू मुझे बहुत प्रिय है, इसलिए मैं तुझसे तेरा हित कहूँगा ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर । तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है । तू मुझे प्रिय है ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सब धर्मों का त्याग करके एक मेरी ही शरण ले । मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा । शोक मत कर ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

परन्तु यह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा वह मेरी परम भक्ति करने के कारण निःसन्देह मुझे ही पायगा ।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

उसकी अपेक्षा मनुष्यों में मेरा कोई अधिक प्रिय सेवक नहीं है और इस पृथ्वी में उसकी अपेक्षा मुझे कोई अधिक प्रिय होने वाला नहीं है ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

हमारे इस धर्म्म-संवाद का जो अभ्यास करेगा, वह मुझे यज्ञ द्वारा भजेगा, ऐसा मेरा मत है ।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१

और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान् जहाँ बसते हैं उस शुभ लोक को पायगा ।

टिप्पणी—इसमें तात्पर्य यह है कि जिसने इस ज्ञान का अनुभव किया है वही इसे दूसरे को दे सकता है। शुद्ध उच्चारण करके अर्थ सहित सुना जाने वालों के विषय में ये दोनों श्लोक नहीं है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञान संमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

हे पार्थ! यह तूने एकाग्रचित्त से सुना? हे धनञ्जय इस अज्ञान के कारण जो मोह तुझे हुआ था वह क्या नष्ट हो गया।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले—

हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नाश हो गया है। मुझे समझ आ गई है, शंका का समाधान हो जाने से मैं स्वस्थ हो गया हूँ। आपका कहा करूँगा।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इस प्रकार वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह रोमांचित करने वाला अद्भुत संवाद मैंने सुना।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।

व्यास जी की कृपा से योगेश्वर कृष्ण के श्री मुख से मैंने यह गुह्य परमयोग सुना ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।

हे राजन् ! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पवित्र संवाद का स्मरण कर करके, मैं बारंबार आनंदित होता हूँ ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

हे राजन ! हरि के उस अद्भुत रूप का खूब स्मरण कर करके मैं बहुत विस्मित होता हूँ और बारंबार आनंदित होता रहता हूँ ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।७८।।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धारी पार्थ हैं, वहाँ श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है, ऐसा मेरा अभिप्राय है ।

टिप्पणी—योगेश्वर कृष्ण से तात्पर्य है अनुभवसिद्ध शुद्ध ज्ञान, और धनुर्धारी अर्जुन से अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया, इन दोनों का संगम जहाँ हो, वहां संजय ने जो कहा उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'संन्यास योग' नामक अठारहवाँ अध्याय।

ॐ शान्तिः

गीता–बोध

अठारहवाँ अध्याय

२१–२–३२

यरवदा मंदिर

पिछले सोलह अध्यायों के मनन के बाद भी अर्जुन के मन में शंका बनी रह जाती है। क्योंकि गीता का संन्यास उसे प्रचलित संन्यास से भिन्न लगता है। उसे लगता है, त्याग और संन्यास दो अलग-अलग चीजें हैं क्या।

इस शंका का निवारण करते हुए भगवान् इस अंतिम अध्याय में गीता-शिक्षण का सार दे देते हैं।

कितने ही कर्मों में कामना भरी होती है, अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य अनेक उद्यम रचता है। यह काम्य कर्म है। अन्य आवश्यक और स्वाभाविक कर्म हैं, जैसे साँस लेना, देह की रक्षा भर को खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, सोना इत्यादि। और तीसरा कर्म पारमार्थिक है। इन में से काम्य कर्म का त्याग गीता का संन्यास है, और कर्म-मात्र के फल का त्याग गीतामान्य त्याग है।

कह सकते हैं कि कर्म-मात्र में कुछ दोष तो अवश्य है ही, तथापि यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ कर्म का त्याग विहित नहीं है। यज्ञ में दान और तप आ जाते हैं। पर परमार्थ में भी आसक्ति, मोह नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसमें बुराई के घुस आने की संभावना है।

मोहवश नियत कर्म का त्याग तामस त्याग है। देह के कष्ट के खयाल से किया हुआ त्याग राजस है। पर सेवा-कार्य करने की भावना से, बिना फल की इच्छा का त्याग सच्चा सात्त्विक त्याग है। अतः यहाँ कर्म-मात्र का त्याग नहीं है, बल्कि कर्तव्य-कर्म के फल का त्याग है। और दूसरे अर्थात् काम्य कर्म का त्याग तो है ही। ऐसे त्यागी को शंकाएँ नहीं उठतीं। उसकी भावना शुद्ध होती है, और वह सुविधा-असुविधा का विचार नहीं करता।

जो कर्म-फल का त्याग नहीं करते हैं उन्हें तो अच्छे बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं। इससे वे बंधन में पड़े रहते हैं। फल-त्यागी बंधन-मुक्त हो जाता है।

और कर्म के विषय में मोह क्या ? अपने कर्तापन का अभियोग मिथ्या है। कर्म-मात्र की सिद्धि में पाँच कारण होते हैं— स्थान, कर्ता, साधन, क्रियाएँ और यह सब होने पर भी अन्तिम दैव है।

यह समझ कर मनुष्य को अभिमान का त्याग करना चाहिए। अहंता छोड़कर कुछ भी करने वाले के बारे में कहा जा सकता है। क्योंकि उसे वह कर्म बन्धन-कर्ता नहीं होता। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्य के विषय में कह सकते हैं कि वह मारते हुए भी नहीं मरता है। इसके मानी यह नहीं होते कि कोई मनुष्य शून्यवत् होते हुए भी हिंसा करता है और अलिप्त रहता है। निरभिमानी को हिंसा करने का प्रयोजन ही क्या है।

कर्म की प्रेरणा में तीन वस्तुएँ होती हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञान। और उसके तीन अंग होते हैं—इन्द्रियाँ, क्रिया, और कर्ता। जो करना है वह ज्ञेय है। जो उसकी रीति है वह ज्ञान है, और जानने वाला जो है वह परिज्ञाता है। इस प्रकार प्रेरणा

होने के बाद कर्म होता है। उसमें इन्द्रियाँ कारण होती हैं, जो करने को है वह क्रिया, और उसका करने वाला जो है वह कर्ता है। इस प्रकार विचार में से आचार होता है। जिसके द्वारा हम प्राणी-मात्र में एक ही भाव देखें, अर्थात् सब कुछ भिन्न-भिन्न लगते हुए भी गहराई में उतरने पर एक ही भासित हों, तो वह सात्त्विक ज्ञान है।

इस से उलटा, जो भिन्न दिखाई देता है वह भिन्न ही भासित हो, तो वह राजस ज्ञान है।

और जहाँ कुछ पता ही नहीं लगता और सब बिना कारण के गड़बड़ लगता है वह तामस ज्ञान है।

ज्ञान के विभाग की भाँति कर्म के भी विभाग हैं। जहाँ फलेच्छा नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, वह कर्म सात्त्विक है। जहाँ भोग की इच्छा है, जहाँ मैं करता हूँ यह अभिमान है और इससे जहाँ हो-हल्ला है वह राजस कर्म है। जहाँ परिणाम को, हानि की या हिंसा की, शक्ति की परवाह नहीं है और जो मोह के वश होकर होता है वह तामस कर्म है।

कर्म की भाँति कर्ता भी तीन तरह के समझने चाहिएँ। सात्त्विक कर्ता वह है जिसे राग नहीं है, अहंकार नहीं है तथापि जिसमें दृढ़ता है, साहस है, और जिसे अच्छे-बुरे फल से हर्ष-शोक नहीं है। राजस कर्ता में राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो जरूर होता ही है, तो फिर कर्म-फल की इच्छा का तो कहना ही क्या? और तामस कर्ता अव्य-वस्थित, दीर्घ-सूत्री, हठी, शठ, आलसी, संक्षेप में कहा जाय तो संस्कारसहित होता है।

बुद्धि; धृति और सुख के भी भिन्न-भिन्न प्रकार जानने योग्य हैं।

सात्त्विक बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य भय-अभय और बन्ध-मोक्ष आदि का सही भेद करती और जानती है। राजसी बुद्धि यह भेद करने तो चलती है, पर गलत या विपरीत कर लेती है और तामसी बुद्धि तो धर्म को अधर्म मानती है। सब उलटा ही निहारती है।

धृति अर्थात् धारणा, कुछ भी ग्रहण करके उसमें लगे रहने की शक्ति। यह शक्ति अल्पाधिक प्रमाण में सब में है। यदि यह न हो तो जगत् एक क्षण भी न टिक सके। अब जिसमें मन, प्राण और इंद्रियों की क्रिया की समता है, समानता है और एक निष्ठा है, वहाँ धृति सात्त्विकी है। और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म काम और अर्थ को आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्य को निंदा, भय, शोक, निराशा, मद वगैरह नहीं छोड़ने देती, वह तामसी है।

सात्त्विक सुख वह है, जिसमें दुःख का अनुभव नहीं है, जिसमें आत्मा प्रसन्न रहता है, जो शुरू में जहर-सा लगने पर भी परिणाम में, अमृत के समान ही है। विषय-भोग में जो शुरू में मधुर लगता है पर बाद को जहर के समान हो जाता है, वह राजस सुख है। और जिसमें केवल मूर्च्छा, आलस्य, निद्रा ही है वह तामस सुख है।

इस प्रकार सब वस्तुओं के तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मणादि चार वर्ण भी इन तीन गुणों के अल्पाधिक्य के कारण हुए हैं। ब्राह्मण के कर्म में शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता,

ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रियों में शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीछे न हटना, ज्ञान, राज्य चलाने की शक्ति होनी चाहिए। खेती, गो-रक्षा और व्यापार वैश्य का कर्म है और शूद्र का सेवा। इसका यह मतलब नहीं कि एक के गुण दूसरेमें नहीं होते, अथवा इन गुणों को हासिल करने का उसे हक नहीं है। पर उपर्युक्त भाँति के गुण या कर्म से उस-उस वर्ण की पहचान हो सकती है। यदि हर एक वर्ण के गुण-कर्म पहचाने जायं तो परस्पर द्वेष-भाव न हो, स्पर्द्धा न हो। ऊंच-नीच की भावना की यहाँ कोई गुन्जाइश नहीं है। बल्कि सब अपने स्वभाव के अनुसार निष्काम भाव से अपने कर्म करते रहें तो उन कर्मों को करते हुए वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। इसीलिए कहा है कि परधर्म चाहे सरल लगता हो और स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो, तो भी स्वधर्म अच्छा है। स्वभाव-जन्य कर्म में पाप न होने की संभावना है, क्योंकि उसी में निष्कामता की पाबंदी हो सकती है, दूसरा करने की इच्छा में ही कामना आ जाती है। बाकी तो जैसे अग्नि-मात्र में धुआँ है वैसे कर्म-मात्र में दोष तो अवश्य है; पर सहजप्राप्त कर्म-फल की इच्छा के बिना होते हैं, इसलिए कर्म का दोष नहीं लगता।

जो इस प्रकार स्वधर्म का पालन करता हुआ शुद्ध हो गया है, जिसने मन को वश में कर रखा है, जिसने पाँच विषयों को छोड़ दिया है, जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है, जो एकांतसेवी अर्थात् अंतर्ध्यानी रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन, काया को अंकुश में रखता है, ईश्वर का ध्यान जिसे बराबर बना रहता है, जिसने अहंकार, काम, क्रोध, परिग्रह इत्यादि तज दिये हैं, वह शांत योगी ब्रह्मभाव को पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव रखता है और हर्ष-शोक नहीं करता, ऐसा भक्त

ईश्वर-तत्त्व को यथार्थ जानता है, और ईश्वर में लीन हो जाता है। इस प्रकार जो भगवान् का आश्रय लेता है वह अमृतपद पाता है। इसलिए भगवान् कहते हैं : सब मुझे अर्पण कर, मुझमें परायण हो, और विवेक-बुद्धि का आश्रय लेकर मुझमें चित्त पिरो दे। ऐसा करेगा तो सारी विडंबनाओं से छूट जायगा, पर जो अहंकार रखकर मेरी नहीं सुनेगा तो विनाश को प्राप्त होगा। सौ बात की एक बात तो यह है कि सभी प्रपंचों को त्यागकर मेरी ही शरण ले तो तू पापमुक्त हो जायगा। जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसे सुनने की इच्छा नहीं है और जो मेरा द्वेष करता है उससे यह ज्ञान मत कहना। पर यह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा वह मेरी भक्ति करने के कारण अवश्य मुझे पायगा।

अंत में संजय धृतराष्ट्र से कहता है : जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धारी पार्थ हैं, वहाँ श्री है, विजय है, वैभव है, और अविचल नीति है।

यहाँ कृष्ण को योगेश्वर विशेषण दिया गया है। इससे उसका शाश्वत अर्थ, शुद्ध अनुभव ज्ञान किया गया है, और धनुर्धारी पार्थ कहकर यह बतलाया गया है कि जहाँ ऐसे अनुभवसिद्ध ज्ञान का अनुसरण करने वाली क्रिया है, वहाँ परम नीति की ओर अविरोधिनी मनोकामना सिद्ध होती है।

: समाप्त :